संस्कृति

अंक : 28
अर्द्धवार्षिक पत्रिका
मार्च, 2025

संस्कृति मंत्रालय
भारत सरकार

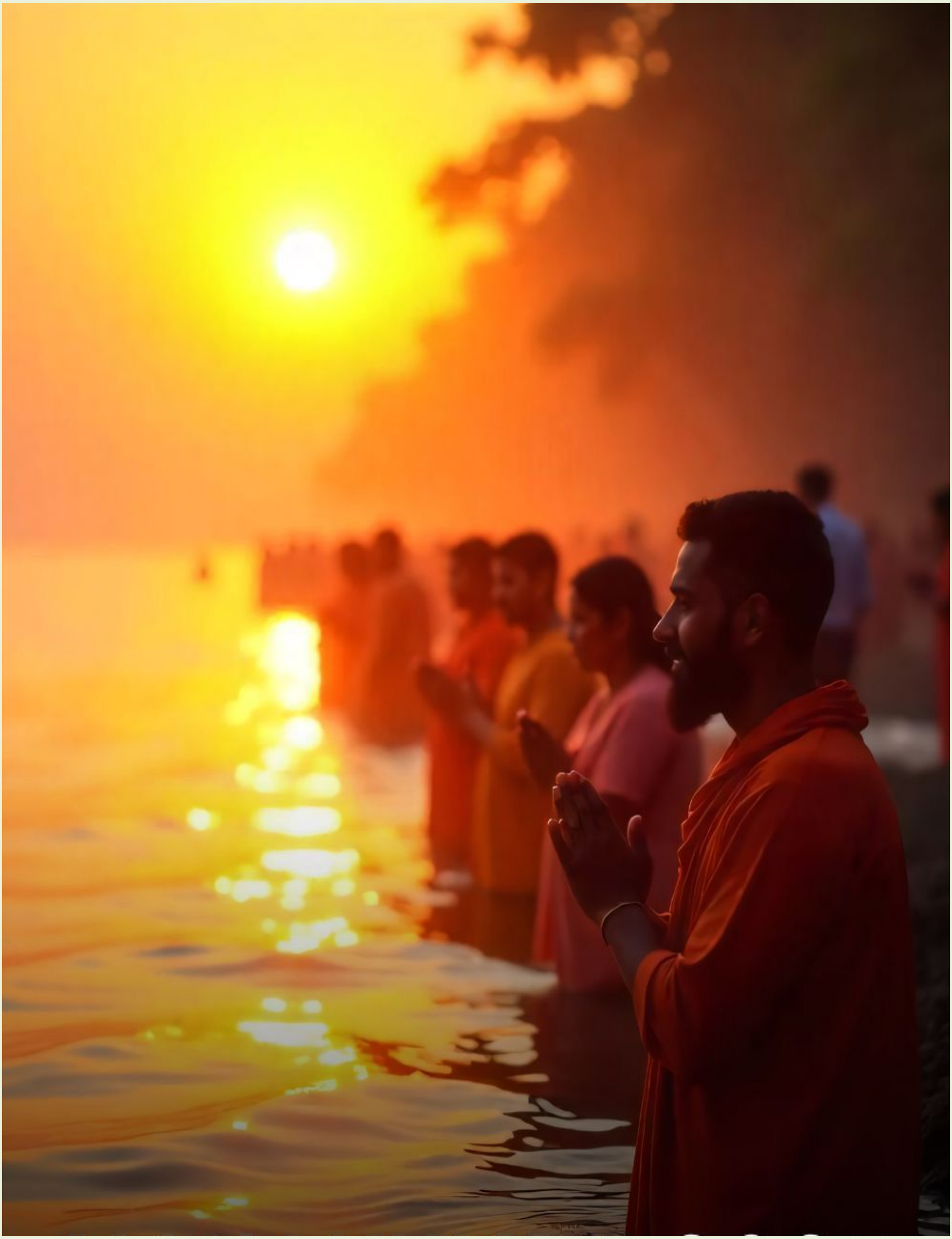

महाकुंभ मेला भारत की आस्था, विश्वास, सौहार्द, आध्यात्म और संस्कृतियों का मिलन है। इस महापर्व में करोड़ों श्रद्धालु हर बारहवें वर्ष प्रयाग, हरिद्वार, उज्जैन और नासिक में से किसी एक स्थान पर एकत्रित होते हैं और संगम में पवित्र स्नान करते हैं। भारत में आयोजित होने वाला महाकुंभ मेला यूनेस्को की धरोहर में भी शामिल है।

संस्कृति मंत्रालय
भारत सरकार

संस्कृति

संरक्षक :
विवेक अग्रवाल, सचिव

मुख्य परामर्शदाता :
डॉ. अरविन्द कुमार, संयुक्त सचिव

सम्पादक :
आशिमा भारद्वाज, सहायक निदेशक

उप सम्पादक :
डॉ. ज्योत्स्ना शर्मा, वरिष्ठ अनुवाद अधिकारी

संपादन मंडल :
राजभाषा प्रभाग के समस्त पदाधिकारी

मुख्य आवरण: महाकुंभ 2025 में संस्कृति मंत्रालय द्वारा स्थापित कलाग्राम

अंतिम आवरण: उत्तराखंड की लोक चित्रकला ऐपण

संपादकीय पता :
आशिमा भारद्वाज, सहायक निदेशक (राजभाषा)
कमरा सं. 104, सी-विंग, शास्त्री भवन,
डॉ. राजेन्द्र प्रसाद रोड, नई दिल्ली-110001
☎ 91 011- 23383425
ई-मेल : dirol-culture@nic.in
hindicsl@gmail.com

(यह पत्रिका मंत्रालय की वेबसाइट : www.indiaculture.nic.in पर उपलब्ध है)

संस्कृति मंत्रालय
भारत सरकार
शास्त्री भवन, नई दिल्ली-110001

संस्कृति पत्रिका में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार और तथ्य लेखकों के हैं, उनसे मंत्रालय या संपादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है और न ही वे उसके जिम्मेदार हैं।

गजेन्द्र सिंह शेखावत
Gajendra Singh Shekhawat

संस्कृति मंत्री एवं पर्यटन मंत्री
भारत सरकार
MINISTER OF CULTURE AND
MINISTER OF TOURISM
GOVERNMENT OF INDIA

संदेश

भारतीय वाङ्मय में संस्कृति को प्राय: संस्कार रूप में स्वीकार किया गया है। संस्कृति समस्त मानव जाति की सहस्त्राब्दियों की साधना का परिणाम है। अर्थ निष्पत्ति की दृष्टि से संस्कृति अमूर्त होती है, जिसके अंतर्गत मनुष्योचित भावनाओं, मूल्यों, मान्यताओं और आदर्शों का विकास होता है। यही तत्व भारतीय संस्कृति की आत्मा है और इसी कारण से भारत वर्ष वंदनीय है। हमारे देश का सांस्कृतिक सौंदर्य और सौष्ठव अन्तरसांस्कृतिक भावना से ओत-प्रोत है। भिन्न-भिन्न संस्कृतियों को उदारता से ग्रहण करते हुए सामासिक संस्कृति का अप्रतिम उदाहण हमारा राष्ट्र एक समग्र भारत की छवि अंतस में अंकित करता है। भारतीय ज्ञान परंपरा में जीवन का व्यापक स्वरूप अभ्युदय और श्रेयस में अंतर्निहित है-

''यतो अभ्युदय नि:श्रेयस सिद्धि:स: धर्म:''

अर्थात् मनुष्य केवल अपने सुखभोग की आशा नहीं करता अपितु चिरस्थायी तृप्ति की ओर अग्रसर होता है। वैशेषिक दर्शन के संस्थापक महर्षि कणाद ने इस सूत्र के माध्यम से न केवल समृद्धि, उन्नति अपितु आरोग्यता, उत्साह, पुरुषार्थ और सदगुणों को समाहित करते हुए आत्म कल्याण के मार्ग को प्रशस्त किया। भारत की ऐसी सामासिक संस्कृति हमारे राष्ट्र को संपूर्ण विश्व में अतुलनीय, अनुपम और अद्वितीय बनाती है।

(गजेन्द्र सिंह शेखावत)

विवेक अग्रवाल
सचिव
Vivek Aggarwal
Secretary

सत्यमेव जयते

भारत सरकार
संस्कृति मंत्रालय
नई दिल्ली-110001

GOVERNMENT OF INDIA
MINISTRY OF CULTURE
NEW DELHI-110001

संदेश

अनादिकाल से वर्तमान तक विश्व में अनेकों संस्कृतियां अस्तित्व में आने के उपरांत कालचक्र के साथ विलुप्त हो गईं, तथापि आज की भौतिकवादी प्रतिस्पर्धा में भी भारतीय संस्कृति अपने मूलरूप में विद्यमान है जिससे हमारे संस्कार परिलक्षित होते हैं। हमारे संस्कृति जनित संस्कार हमें एकता के सूत्र में बांधकर अखण्ड भारत की अवधारणा को अक्षुण्ण बनाए रखते हैं। वैचारिक दृष्टि से भी भारतीय संस्कृति अतुलनीय है क्योंकि इसमें सभी के लिए सामंजस्य की अपार क्षमता है जो किसी समाज और देश की सफलता के लिए आवश्यक होती है।

भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों को अभिव्यक्त करती 'संस्कृति' पत्रिका के 28वें अंक के सफल प्रकाशन के लिए मेरी ओर से हार्दिक शुभकामनाएं।

विवेक
(विवेक अग्रवाल)

डॉ. अरविन्द कुमार
संयुक्त सचिव
DR. ARVIND KUMAR
Joint Secretary

भारत सरकार
संस्कृति मंत्रालय
नई दिल्ली-110001
GOVERNMENT OF INDIA
MINISTRY OF CULTURE
NEW DELHI-110001

सत्यमेव जयते

संदेश

भारतीय संस्कृति की महाधारा में कई संस्कृतियाँ रूपान्तरित हुईं क्योंकि वैचारिक दृष्टि से भारतीय संस्कृति में सभी को साथ लेकर चलने की अतुलनीय क्षमता है। भारत में अलग-अलग धर्मों को मानने वाले, विविध पंथ, मत और संप्रदायों का अनुसरण करने वाले लोग एक-दूसरे की परंपरा का सत्कार करते हैं, साथ ही आनंद और उल्लास के साथ सहिष्णुता का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। भारत की इसी बौद्धिक और दार्शनिक ज्ञान परंपरा ने संस्कृति के मूल तत्वों यथा त्याग, तप, मनोबल, समन्वय और उदारता की भावना को सिंचित किया और इन्हें जीवन मूल्यों के रूप में स्थापित किया। हमारी इसी बहुसांस्कृतिक विशिष्टता में आध्यात्मिक चेतना के स्वर गूंजते हैं। यह चेतना हर भारतीय के हृदय में संचार करती है जिससे भारतीय संस्कृति की संपूर्ण विश्व में भूरि-भूरि प्रशंसा होती है। हमारी सभ्यता, हमारे आचार-विचार-व्यवहार, हमारी परंपराएं मानव कल्याण के उद्देश्य और नवाचार की भावना से ओत-प्रोत होकर नव-सृजन में संलग्न हैं।

भारतीय संस्कृति की इसी महानता को दर्शाती 'संस्कृति' पत्रिका के 28वें अंक के प्रकाशन के लिए मेरी शुभकामनाएं।

अरविन्द कुमार

(डॉ. अरविन्द कुमार)

संपादकीय

संस्कृति किसी भी समाज में व्याप्त मूल्यों का सार है, जीवन जीने की विधि है और लोगों की मानसिकता एवं व्यवहार का प्रतिबिम्ब है। अक्सर ही संस्कृति और सभ्यता को एक-दूसरे का पर्याय मान लिया जाता है, परन्तु इन दोनों के बीच सूक्ष्म अंतर है। संस्कृति समाज के रीति-रिवाजों, कलाओं, मूल्यों आदि का प्रतीक है जबकि सभ्यता का संबंध प्रौद्योगिकी, शासन, सामाजिक प्रगति आदि जैसे भौतिक पहलुओं से है। इस दृष्टि से देखें तो भारत की सभ्यता अति प्राचीन है और संस्कृति अत्यंत समृद्ध है। समय के वेग में कई प्राचीन सभ्यताएं काल में विलीन हो गईं, परन्तु भारतीय संस्कृति अपने उदार और समन्वयवादी दृष्टिकोण के कारण न केवल आज भी दृढ़ता से कायम है, बल्कि यह अपनी सम्यक चेष्टाओं के फलस्वरूप पूरे विश्व में अपनी उपस्थिति दर्ज करा रही है।

भारत महामानवता का अप्रतिम उदाहरण प्रस्तुत करता रहा है इसीलिए भारतीय संस्कृति वरणीय है। कोई भी मनुष्य अपने संस्कारों के कारण ही समाज और राष्ट्र की अस्मिता की रक्षा कर सकता है और भारतीयों द्वारा यही संस्कार हमारी संस्कृति के रूप में देश ही नहीं अपितु विदेशों में भी प्रसारित हुए। देश की परिधि से परे जाकर भारतीय संस्कृति ने विस्तार पाया जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें विदेशों में बसे भारतीयों तथा उनके द्वारा वहाँ संरक्षित भारतीय मूल्यों के माध्यम से मिलता है। संस्कृति पत्रिका के प्रस्तुत अंक में इसी भाव और बोध को परिलक्षित करते हुए गिरमिटिया महिलाओं और ब्रिटेन जैसे देशों में हिंदी के प्रचार-प्रसार में कार्यरत हिंदी सेवी संस्थाओं पर लेख शामिल किए गए हैं। इसके अतिरिक्त, उत्तराखंड की ऐपण कला, बूंदी की अनूठी चित्रकला, कठपुतली कला, कश्मीर की पेपर माशे कला आदि लेखों के माध्यम से पाठकगण भारत की वैविध्यपूर्ण और अनेक-रंगी संस्कृति की छटाओं से भी अवगत होंगे।

आशा है कि बहुआयामी, बहु-सांस्कृतिक भारतीयता की ऊर्जस्विता से ओत-प्रोत इस अंक को पढ़कर आप आनंदित होंगे।

(आशिमा भारद्वाज)

उप-संपादकीय

गङ्गायामन्यदा स्नानं कुर्वन्ति ह्यृषयो जनाः।
माघे तु यमुनायां च प्रयागे मोक्षदं परम्॥

इस वर्ष लाखों श्रद्धालुओं ने कुम्भ स्नान को अनुभव किया जिसकी अमिट छाप जीवनपर्यंत उन्हें सुवासित करती रहेगी। आदि शंकराचार्य के महान दृष्टिकोण ने कुंभ को एक ऐसे केंद्र के रूप में आकार दिया जहां जीवात्माओं के उत्थान हेतु विचार-मंथन और संवाद हुआ करते थे। ये केंद्र भारत की भौगोलिक सीमाओं के अंतर को पाटते हैं। त्रिवेणी के संगम पर संतों, ऋषियों, तपस्वियों, तीर्थयात्रियों का अद्वितीय समागम हुआ। असंख्य लोगों ने जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति पाने के लिए कुंभ स्नान किया। श्रद्धालुओं ने हर भेद भाव से परे केवल कुंभ के आध्यात्मिक आनंद का अर्थ ग्रहण किया। कुंभ मेला भारतीय ज्ञान परंपरा, संस्कृति और दर्शन का विज्ञान समेटे हुए है जिसके प्रत्यक्ष प्रमाण हमारे खगोल विज्ञान, ज्योतिष, अध्यात्म, अनुष्ठान आदि से प्राप्त होते हैं। भारतीय उपमहाद्वीप की इस अद्भुत घटना ने विश्व में सबको अचंभित कर दिया। भारतीय संस्कृति और परंपरा की विविधता हमेशा से पश्चिमी दुनिया के लिए शोध का विषय रही है इसीलिए विदेशी श्रद्धालु भी इस अवसर पर स्वयं को रोक न सके और खिंचे चले आए 'प्रयाग'।

हर कोई भारतीय भोजन, भाषा और साहित्य, कला, विरासत और सबसे महत्वपूर्ण भारतीय ज्ञान परंपरा की प्रशंसा करता रहा। संयुक्त राष्ट्र ने कुंभ मेले को मानवता की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत की सूची में शामिल करके इसके सांस्कृतिक और ऐतिहासिक महत्व को विश्व पटल पर स्थान दिया है।

इसी क्रम में संस्कृति पत्रिका के कुम्भ में भी भारत के वैदिक वाङ्मय में निहित एकत्व के विज्ञान, अवध की लोक संस्कृति, भारतीय देवालय संस्कृति और मानस में लोक मंगल की भावना सरीखे लेखों को सहेजते हुए यह अंक सुधि पाठकों को समर्पित।

ज्योत्स्ना

(डॉ. ज्योत्स्ना शर्मा)

विषय क्रम

पृष्ठ संख्या

1. संस्कृति और सभ्यता — 1-3
डॉ. गुलाब कोठारी

2. नेपाल का चमत्कारी मंदिर 'बूढ़ा नीलकंठ जहां नेपाल नरेश जा नहीं सकते — 4-8
डॉ. विमलेश कान्ति वर्मा

3. भारतीय सामासिक संस्कृति और राजभाषा हिन्दी — 9-14
डॉ. राजेन्द्र गौतम

4. वैदिक वाङ्मय में लोक कल्याण — 15-19
डॉ. भूपेन्द्र कुमार राठौर

5. पंजाब के लोक नृत्य — 20-25
प्रो. सुखदेव सिंह मिन्हास

6. हिन्दी सिनेमा और भारतीय संस्कृति — 26-30
डॉ. धर्मेन्द्र प्रताप सिंह

7. सांस्कृतिक रस-गंध का त्यौहार — 31-33
उमेश चतुर्वेदी

8. कठपुतली: धागो में बंधी संस्कृति और मनोरंजन की कला — 34-36
रिंकल शर्मा

9. नज़ाकत और नफ़ासत की विरासत कश्मीरी पेपर माशे — 37-39
डॉ. दर्शिनी प्रिया

10. मानस में लोक मंगल की भावना : सांस्कृतिक-समरसता की कामना — 40-43
बिपिन कुमार झा

11. पारंपरिक नृत्य — 44-46
आशीष दशोत्तर

12. एकत्व का विज्ञान — 47-49
सनातन कुमार

13. भारतीय संस्कृति की वाहक- गिरमिटिया महिलाएं 50-56
भावना सक्सैना

14. विविधता का उत्सव है संस्कृति 57-59
डॉ. वेदप्रकाश

15. चटक रंगों में सजी बूंदी की अनूठी चित्रकला 60-62
डॉ. ज्योत्स्ना शर्मा

16. उत्तराखंड लोक चित्रकला शैली "ऐपण" 63-65
हरेन्द्र सिंह

17. भारतीयता का आधार है देवालय संस्कृति 66-68
डॉ. विनोद बब्बर

18. हिंदी के प्रचार-प्रसार में रत ब्रिटेन की हिंदी सेवी संस्थाएं 69-74
डॉ. विनय कुमार शर्मा

19. देवगिरी का किला 75-78
राजेश श्रीवास्तव

20. अवध की लोक संस्कृति में राम की उपस्थिति 80-83
शेषधर यादव

21. चांदी के गोले दागने वाला चूरू का ऐतिहासिक किला 84-85
बाल मुकुन्द ओझा

विशेष अतिथि आलेख

संस्कृति और सभ्यता

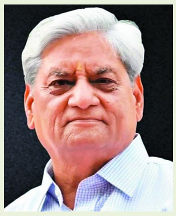

डॉ. गुलाब कोठारी (डी.लिट्)
संस्थापक, राजस्थान पत्रिका

ब्रह्म के चार पाद कहे गए हैं—निर्विशेष, परात्पर, पुर और पुरुष। ब्रह्म एक ही पाद-विश्व पर खड़ा है। शेष तीन दिखाई नहीं देते। 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं भी ब्रह्म हूं। मेरे भी चार पाद हैं—शरीर-मन-बुद्धि और आत्मा। इनमें एक पाद-शरीर-ही दिखाई देता है। शेष तीन अदृश्य हैं, किन्तु ये ही शरीर में अभिव्यक्त होते हैं। शरीर सभ्यता है। आत्मा संस्कृति है।

मेरा शरीर, मेरी बुद्धि, मेरा मन और मेरी आत्मा मेरे पास ये चार उपलब्धियां हैं। इन चारों का अलग-अलग ढंग से निर्माण होता है। अगर इनमें से एक भी कच्चा है तो मेरा व्यक्तित्व अधूरा रह जाएगा। मेरे जीवन के सुख में कहीं न कहीं कमी रह जाएगी। शरीर दिखाई देता है, लेकिन न बुद्धि दिखाई देती है न मन दिखाई देता है न आत्मा दिखाई देती है। तीन चौथाई जो मेरा हिस्सा है वो मुझे दिखाई नहीं देता। लेकिन ये तीनों मिलकर मेरे शरीर को चलाते हैं। शरीर साधन है, साध्य नहीं है। शरीर इन तीनों की अभिव्यक्ति का और इन तीनों के विकास का साधन है। मैं शरीर नहीं हूं।

हमारी स्थूल सृष्टि में आत्मा नित्यरूप में ब्रह्म की प्रतिकृति है। ब्रह्म ही सम है। उसकी कृति ही विश्व है। यह सम और कृति ही संस्कृति है। देश-काल के अनुरूप स्थूल विश्व में इसकी व्यावहारिक अभिव्यक्ति ही सभ्यता है। सभ्यता इतिहास-भूगोल-धर्म आदि कारणों से भी परिवर्तित होती रहती है। सत्ता का डण्डा भी सभ्यता का स्वरूप तय कर देता है। जैसे कि मुगलों और अंग्रेजों ने कर दिखाया था। ये हमारी संस्कृति के संस्कारों की ही शक्ति थी कि आज भी हमारी संस्कृति उसी स्वरूप को बनाए हुए है क्योंकि संस्कार दोषों का परिमार्जन भी करते रहते हैं तथा अतिशय का आधान भी करते हैं। संस्कृति ही सभ्यता की पूर्व अवस्था है तथा सभ्यता ही संस्कृति की उत्तर अवस्था है। हां, सभ्यता में भीतर जाकर संस्कृति को ढूंढना पड़ता है।

जीवन में हम जिनको संस्कार कहते हैं, वे संस्कृति का ही व्यावहारिक स्वरूप हैं। सृष्टि में अग्नि-सोम से ही सृष्टि आगे बढ़ती है। सूर्य-चन्द्रमा, परमेष्ठी-सूर्य से लेकर पृथ्वी के प्राणियों तक यही सिद्धान्त लागू होता है। अग्नि में सोम की आहुति ही यज्ञ अथवा निर्माण की प्रक्रिया है। सातों लोकों में किसी भी स्तर पर इस सिद्धान्त को बदला नहीं जा सकता। टेस्ट-ट्यूब बेबी के लिए भी सिद्धान्त तो यही रहेगा। हां, सभ्यता के रूप में प्रसव प्रक्रिया में शल्य प्रक्रिया नई जुड़ गई, जो प्रकृति में उपलब्ध नहीं है। हां, अब तो मुहूर्त देखकर शल्यक्रिया से प्रसव कराया जाने लगा है। यही देश-काल का प्रभाव कहा जाता है। यह प्राकृतिक यज्ञ का अवखण्डन है।

जीवन और मृत्यु दोनों ही के गर्भ में पीड़ा रहती है। जैसे राग ही द्वेष में बदल जाता है, वैसे ही पीड़ा भी सुख में परिवर्तित हो जाती है। प्रसव पीड़ा ही ममता का रूप लेती है। शल्यक्रिया के कारण माता प्रसव पीड़ा से मुक्त हो जाती है, तब ममता कहां से पैदा होगी? बिना पीड़ा के सन्तान तो पैदा हो सकती है, किन्तु 'मां' नहीं बना जा सकता। मां तो संस्कृति है। प्रसव-पीड़ा में मृत्यु के साथ संघर्ष का जो अनुभव है, वही तो सन्तान के साथ सम्बन्ध का हेतु है। मां को सन्तान के चेहरे पर मृत्यु का वह संघर्ष दिखाई देता है। शल्य चिकित्सा उस सेतु को ढहा देती है। सन्तान और मां के बीच जैविक सम्बन्ध रह जाता है, बौद्धिक आधार की जीवन शैली पैदा हो जाती है। दर्द का

रिश्ता ढीला पड़ जाता है। यह रिश्ता गर्भकाल के संस्कारों का होता है। गर्भकाल ही सांस्कृतिक रूपान्तरण का काल होता है। यहां भी आत्मा यदि मानवीय स्वरूप नहीं ले पाई और सन्तान भी शल्यक्रिया से हुई तो दोनों के बीच आत्मीय भाव सदा शून्य ही रहेंगे।

हमारे दर्शन में प्रकृति के संस्कारों का समावेश है। जीवन का प्रकृति से जुड़ा रहना आवश्यक है। इसी में जीवन के सन्तुलन का रहस्य छिपा हुआ है। गर्भाधान संस्कार, पुंसवन संस्कार तथा शुचिता की अवधारणा निर्माण-यज्ञ में, ईश्वर के साक्ष्य में, किया जाने वाला धार्मिक कर्म ही है। अविद्या का इस कर्म में स्वत: ही निषेध हो जाएगा। कर्म ब्रह्म को समर्पित हो जाएगा। यही संस्कृति है।

इसका कारण है कि आत्मा ही ब्रह्म है। शरीर उसका निवास है। उसकी सभ्यता है। माया द्वारा निर्मित होने के कारण ब्रह्म का विस्तार भी है, किन्तु अल्पकालिक है। आत्मा तो जन्म-जन्मान्तरों में एक ही रहती है। पुरुष बनकर सबके भीतर केन्द्र में प्रतिष्ठित है। इसी के प्रतिनिधि रूप में शरीर देश-काल के अनुरूप जीता है। शरीर ही दाम्पत्य भाव का आधार है।

जैसे-सृष्टि कार्य रूप है, इसका कारण सूक्ष्म (अक्षर) रूप होता है। प्राणों की क्रिया में कारण दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। हम कहते हैं-'मातृदेवो भव'। 'पितृदेवो भव'। 'आचार्यदेवो भव'। माता-पिता तो स्थूल देहधारी मानव हैं। देव कैसे हो सकते हैं? देव तो सूक्ष्म तथा अदृश्य होते हैं। यहां हम उन्हें अदृश्य ही मान रहे हैं। देव इसलिए कह रहे हैं कि उन्होंने हमारे निर्माण के लिए अपने अस्तित्व का त्याग भी किया, उसका मोह छोड़ा। गुठली ने पेड़ बनने के लिए जमीन में दबकर जीना स्वीकार किया। क्या इसके बिना वह पेड़ बन सकती है? एक मां को ही इस प्रसव पीड़ा की अनुभूति होती है। पेड़ बड़ा होता जाता है। गुठली की देह मिट्टी हो जाती है। हर नए निर्माण की सृष्टि में यही संस्कृति है। गुठली सोम और पृथ्वी अग्नि है। अग्नि में सोम आहुत होकर जल जाता है। शेष अग्नि रहता है। सम्पूर्ण विश्व अग्नि पिण्ड ही है। सोम के सहारे ही प्रतिदिन इसका स्वरूप टिका रहता है। गुठली मिट जाती है, पेड़ फिर भी बढ़ता रहता है। लाखों पत्ते, फूल, फल, रस, गंध, मिठास-सभी गुठली जैसे ही प्रकट होते जाते हैं। यही पेड़ की सभ्यता है।

इसका एक ही अर्थ निकलता है। गुठली भले ही नहीं रही हो, उसके प्राण सूक्ष्म रूप से शरीर में, पेड़ में, कार्य कर रहे होते हैं। ये प्राण ही देव कहलाते हैं। जब तक देह रहती है, ये प्राण ही भीतर कार्य करते हैं। वे मेरे जीवन का निर्माण भी करते हैं, प्राण रूप में बहते भी रहते हैं, देवरूप में रक्षा भी करते हैं। कभी यह भी सोचना कि गुठली किसके भरोसे आपके हाथ में आई! उसके पीछे वाली गुठली के भीतर वह टिकी हुई थी। उसके पीछे भी कोई और गुठली रही होगी। पीछे-पीछे चलते जाएं। पहली गुठली तक जाकर लगेगा कि ईश्वर ही हम सबके भीतर प्राण रूप में बह रहा है। वही है 'पितृदेवो भव।' 'ममैवांशो जीवलोके, जीवभूत: सनातन:'-कृष्ण ठीक ही कह रहे हैं। हम सब एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं। माया के कारण स्वरूप में भिन्न दिखाई दे रहे हैं। यही ईश्वर की सभ्यता है।

अध्यात्म के चार अंगों में से शरीर, बुद्धि शिक्षा, आत्मा और मन धर्म के विषय बन गए। शिक्षा धर्म निरपेक्ष हो गई। तब व्यक्ति स्व-धर्म की पहचान कहां सीखेगा? शिक्षा के मूल धरातल-आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक-तो खो ही गए। व्यक्तित्व विकास पीछे छूट गया। योग-क्षेम की परिभाषा ही बदल गई। ज्ञान छूट गया, विज्ञान रह गया। ब्रह्म छूट गया, माया रह गई। 'सम्' छूट गया, कृति रह गई। यानी, संस्कृति खण्ड-खण्ड हो गई। शिक्षा प्राप्ति में बीस वर्ष तक किया गया श्रम और लगाया गया धन जीवन संघर्ष में व्यक्ति के काम नहीं आएगा।

शिक्षा का मूल लक्ष्य तो व्यक्तित्व का विकास, मूल्य आधारित समाज का निर्माण ही है। स्वयं का आकलन करने की क्षमता प्राप्त करना है। नर से नारायण बनने का रहस्य जान लेना है। शान्त एवं संतुलित जीवन जीने का मार्ग समझना है। कैसे अध्यात्म के चारों धरातलों को सन्तुलित रखा जाए, यही तो भारतीय संस्कृति का स्वरूप है। किन्तु आज शिक्षित व्यक्ति कैरियर के अलावा कुछ नहीं चाहता/चाहती। अर्थात् केवल अर्थ ही चाहिए ताकि कामनाएं पूरी हो सकें। कामनाएं कैसे पैदा होती हैं, कोई नहीं जानता। क्या हम इच्छा को पैदा कर सकते हैं? क्या इन्द्रियों के विषयों का प्रवाह रोका जा सकता है? सुख-दु:ख, प्रेम मन के विषय हैं। प्रेम ही व्यक्ति से व्यक्ति को जोड़ता है। इसके अभाव में व्यक्ति अकेला जीने लगता है। उसका समष्टि भाव ही खो जाता है। संस्कृति केवल भोग कर लेने का नाम रह जाता है। पुरुषार्थ छूट जाता है। व्यक्ति शरीर और बुद्धि के सहारे जीने लगता है। बिना मन और आत्मा के अपूर्णता का, अशान्ति का जीवन जीता है।

जीवन का लक्ष्य है अभ्युदय और नि:श्रेयस। इसी को योग-क्षेम कहते हैं। विद्या के योग से अविद्या के आवरण हटाना, आत्म साक्षात्कार करना (मोक्ष) ही पुरुषार्थ का लक्ष्य है। आज शिक्षा में पुरुष-प्रकृति का स्वरूप ही नहीं रहा। सृष्टि का निर्माण युग्ल तत्त्व-अग्नि-सोम से अथवा योषा-वृषा से होता है। इस ज्ञान के बिना स्त्री-पुरुष भी मात्र शरीर रह गए, जैसे अन्य प्राणियों के होते हैं। 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी' होता है। इनको जाग्रत करना तथा इनका जीवन में उपयोग कैसे हो पाएगा, शिक्षा तो इनको भुला देती है। व्यक्ति कमाना सीख जाता है, समाज को कुछ देना भी चाहिए, भूल जाता है।

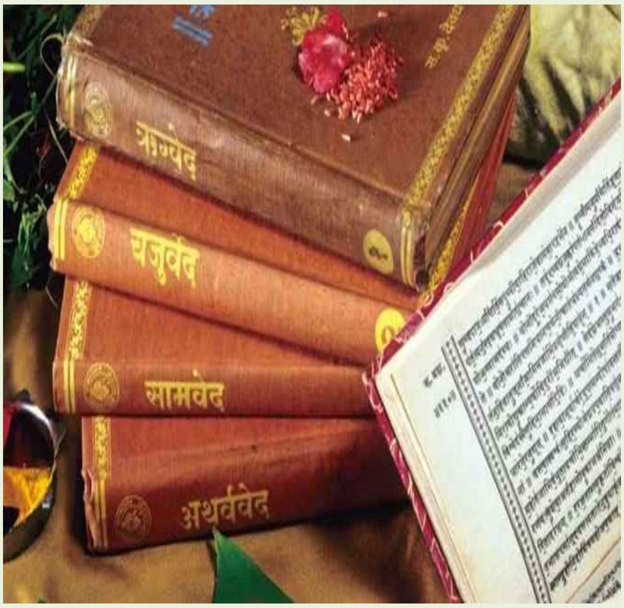

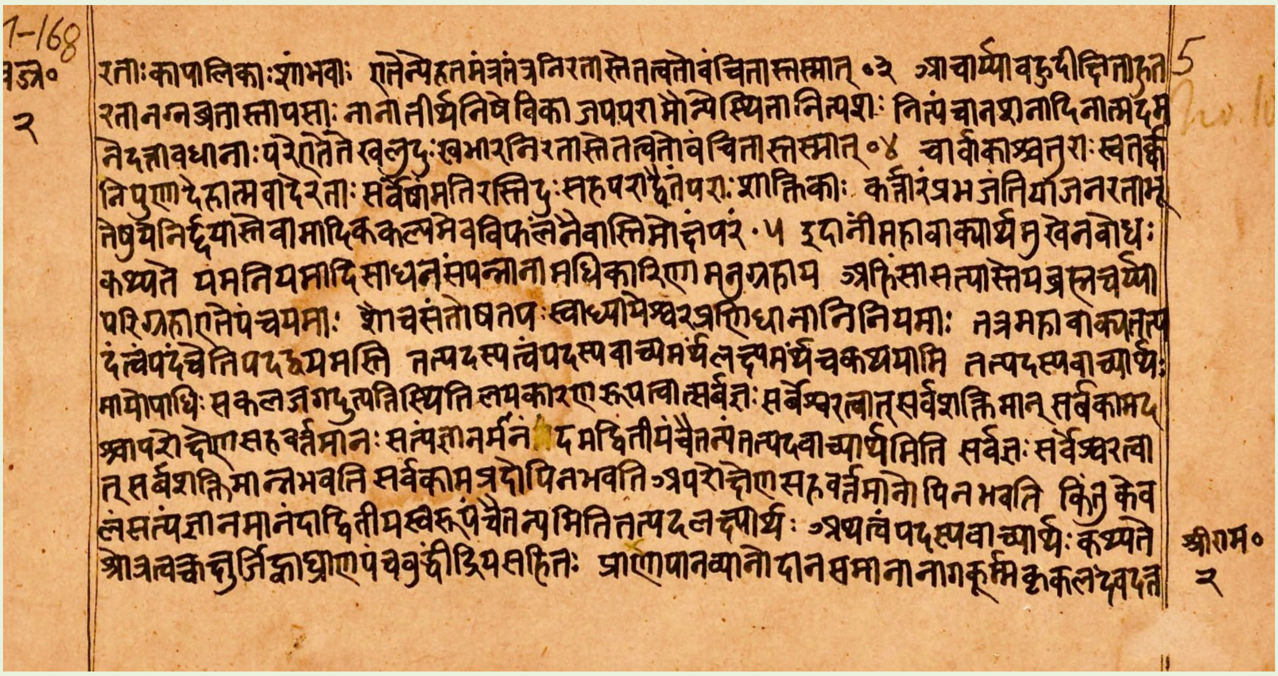

*****

नेपाल का चमत्कारी मंदिर 'बूढ़ा नीलकंठ' जहाँ नेपाल नरेश जा नहीं सकते

डॉ. विमलेश कान्ति वर्मा
वरिष्ठ साहित्यकार

हिमालय के हिम मंडित शिखरों से परिवेष्टित और हरी भरी पहाड़ियों और वादियों से सुशोभित नेपाल मुझे देवधाम सा लगता है। नेपाल की राजधानी काठमांडू में स्थित पशुपतिनाथ का देवालय जहाँ विश्वभर के आस्थावानों को चिरकाल से अपनी ओर आकर्षित करता रहा है वहीं दूसरी ओर नगाधिराज हिमालय नेपाल का गौरव है।

नेपाल और भारत सांस्कृतिक दृष्टि से भी मुझे बहुत एक से लगे। हमारा पौराणिक इतिहास तो दोनों देशों के दृढ़ सांस्कृतिक सम्बन्धों को राम और सीता के विवाह के रूप में सहस्रों वर्षों से देखता रहा है। जनकनंदिनी विदेह पुत्री सीता का जन्म तो नेपाल के मिथिलांचल जनकपुर में हुआ पर वे राजमहिषी और जगज्जननी सीता भारत भूमि अयोध्या में जा कर ही बनीं। गौतम सिद्धार्थ का जन्म तो नेपाल के लुम्बिनी क्षेत्र में हुआ पर गौतम को बुद्धत्व तो भारत भूमि पर ही मिला जहाँ वे गौतम सिद्धार्थ नाम के अतिरिक्त विश्व भर में भगवान बुद्ध के नाम से जाने गये|

नेपाल विश्व का अनोखा ऐसा राष्ट्र है जो अपने को हिन्दू राष्ट्र कहकर गर्व का अनुभव करता है। नेपाल पर कभी विदेशी आक्रमण नहीं हुए इसलिए हिन्दू कला, हिन्दू संस्कार सुरक्षित रहे यद्यपि भूकंप जैसे दैवी प्रकोपों को नेपाल झेलता रहा पर अपनी संस्कृति को पूर्णतया सुरक्षित रख सका। नेपाल और भारत की सांस्कृतिक समानताएं देखकर आपको ऐसा आभास होगा कि नेपाल एक छोटा भारत ही है और आप कह उठेंगें "यत्र तत्र सर्वत्र भारत"। नेपाल में हर मार्ग पर आपको भव्य मंदिरों के दर्शन होगें और आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि नेपाल का हर हिन्दू-नागरिक हो या ग्रामीण, उच्च सरकारी पदाधिकारी हो या सामान्य व्यक्ति, धनी हो या निर्धन

वह आस्थावान है,नियम से नहा धोकर प्रातःकाल मंदिर जा कर भगवान का दर्शन कर अपनी दिनचर्या प्रारम्भ करता है। यही कारण है कि हर मार्ग पर थोड़ी थोड़ी दूरी पर आपको छोटे बड़े मंदिर और पूजा करते आते जाते लोग दिखेंगे। मेरे लिए नेपाल दर्शन एक पूर्णतया अनोखा अनसोचा अनुभव था।

नेपाल की राजधानी काठमांडू के शिवपुरी पर्वतीय क्षेत्र की तलहटी में बसे रमणीक क्षेत्र में बूढ़ा नीलकंठ नामक एक विशाल मंदिर परिसर है जिसमें खुले आकाश के नीचे काली चमकती एक बड़ी शिला पर बहुत ही सुन्दर महाविष्णु का 5 मीटर लंबा अति आकर्षक विशाल विग्रह लगभग 15 मीटर बड़े जलकुंड में प्रतिष्ठित है। खुले आकाश को शांत और प्रसन्न मुद्रा में निहारता भगवान विष्णु का ऐसा सुन्दर विग्रह मैने आज तक कहीं नहीं देखा। आकर्षक विशाल स्वर्णकिरीट तथा बाजूबंद से सुसज्जित शेषशायी महाविष्णु की प्रतिमा का अद्‌भुत सौन्दर्य देखकर मेरा मन चकित था। इस मंदिर के विशाल परिसर में श्रद्धालुओं का हर समय तांता सा लगा रहता है। पर महत्वपूर्ण बात यह है कि इस मंदिर में महाविष्णु का दर्शन करने के लिए नेपाल नरेश या राज परिवार का कोई व्यक्ति इस भय से नहीं आता कि उसके यहाँ आने से परिवार में बड़ा अनिष्ट होने की आशंका है।

जनश्रुति के अनुसार नेपाल के राजा मल्ल (1641 -1674) को सपने में ऐसा आभास हुआ कि किसी ऋषि ने उन्हें शाप दिया है कि यदि वे बूढ़ा नीलकंठ मंदिर में दर्शन के लिए गये तो उनकी अकाल मृत्यु हो जायेगी। यही कारण है कि नेपाल में जितने भी राजा या राजपरिवार के सदस्य हैं कोई भी अकाल मृत्यु के शाप के भय के कारण मंदिर नहीं जाते।

बूढ़ा नीलकंठ मंदिर, काठमांडू नगरपालिका क्षेत्र में है और यह त्रिभुवन अंतर राष्ट्रीय हवाई अड्डे से लगभग 10 किलोमीटर तथा पर्यटकों के प्रमुख आकर्षण केंद्र थमेल से 9 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। नेपाल का सबसे बड़ा और प्रतिष्ठित नेपाल विद्यालय मंदिर से 400 कदम की दूरी पर है जिसे मंदिर की पहचान के लिए भी बताया जा सकता है।

हिंदी में नीलकंठ का अर्थ भगवान शिव है और कहा जाता है कि समुद्रमंथन से प्राप्त विष का पान कर शिव ने विष को अपने कंठ में रोक लिया था जिससे उनका कंठ विष के कारण नीला पड़ गया था और वे नीलकंठ कहलाये पर मंदिर के जलकुंड में विग्रह शेषशायी महाविष्णु का है।

यह कैसे हुआ पूछने पर मंदिर परिसर के एक वरिष्ठ पुजारी ने इस सम्बन्ध में मुझे एक कथा सुनाई। उनका कहना था कि विषपान करने के बाद जब भगवान शिव का कंठ विष से जलने लगा तो विष के प्रभाव को समाप्त करने के लिए शिव ने एक स्थान पर त्रिशूल से प्रहार किया जिससे गोसाईं कुंड का निर्माण हुआ और उसके जल पान से विष की जलन कम हुई। यह गोसाईं कुंड नेपाल के प्रसिद्ध तीर्थों में से एक है। यह गोसाईं कुंड काठमांडू से 132 किलोमीटर उत्तर पूर्व की ओर 436 मीटर की ऊंचाई पर स्थित है और बहुत पवित्र स्थल माना जाता है। मान्यता है कि बूढ़ा नीलकंठ मंदिर के जलकुंड में जल इसी गोसांई कुंड से ही आता है जिसका निर्माण भगवान शिव ने किया था। श्रद्धालुओं का विश्वास है कि सावन के महीने में विष्णु प्रतिमा के साथ भगवान शिव के विग्रह का प्रतिबिम्ब जल में दिखाई देता है। कहा जाता है इस प्रतिबिम्ब के दर्शन केवल सावन के महीने मे ही होते हैं।

जब मैने बूढ़ा नीलकंठ का अर्थ जानना चाहा तो मुझे बताया गया कि "बूढ़ा नीलकंठ" पदबंध दो शब्दों से मिलकर बना है—"बूढ़ा" जिसका अर्थ है बड़ा या प्राचीन और "नीलकंठ" का अर्थ है नीला कंठ या गला। अतः बूढ़ा नीलकंठ के भगवान विष्णु को सबसे प्राचीन नारायण माना जाता है। उन्हें जलशयनी नारायण और हरिहर भी कहा जाता है, जो शिव और विष्णु के सम्मिलित रूप का प्रतीक है। ऐसा भी कहा जाता है कि बूढ़ा नीलकंठ में पूजा करना काशी की यात्रा करने के समान है।

बूढ़ा नीलकंठ मंदिर पर बौद्ध धर्मावलम्बियों की भी अपार श्रद्धा है और उनका तो यह भी मानना है कि यह प्रतिमा भगवान् बुद्ध की है जिसे हिन्दू विष्णु भगवान की प्रतिमा का नाम दे देते हैं|

बूढ़ा नीलकंठ के सम्बन्ध में कई किंवदंतियां जनसमाज में प्रचलित हैं। जिस स्थान पर आज बूढ़ा नीलकंठ मंदिर है वह कभी उर्वर कृषि भूमि थी और वहां खेती होती थी। एक दिन किसान का हल भूमि जोतते समय किसी ठोस पाषाण से टकराया और उस स्थान से रक्त निकलने लगा। किसान चकित था,उसके मन में तरह तरह की आशंकाएं उठने लगीं। चिंतित किसान ने जब उत्सुकता वश गहरे खोदकर उस पाषाण को निकाला तो वह भगवान विष्णु का विशाल विग्रह निकला और गाँव का जनसमाज इस विलक्षण घटना का साक्षी बना। तभी से जन समाज उस भगवान विष्णु के विग्रह की पूजा करने लगा जो धीरे धीरे कालान्तर में बहुत बड़े मंदिर परिसर के रूप में परिवर्तित हो गया और नेपाली जनसमाज की आस्था का प्रमुख केंद्र बना।

भारत में ही नहीं विश्व भर में जितने छोटे बड़े हिन्दू मंदिर मैने देखे हैं उन सब में भगवान की प्रतिमा के बड़े सुरक्षित स्थान जिसे मंदिर का गर्भ गृह कहा जाता है, वहां रखी देखी हैं और उस गर्भ गृह में साधारण व्यक्ति का प्रवेश संभव भी नहीं है। जितना बड़ा मंदिर उतना सुरक्षित गर्भ गृह जहाँ केवल पुजारी या विशिष्ट व्यक्ति ही जा सकता है। कहीं कहीं तो गर्भ गृह में इतना अंधेरा होता है कि प्रतिमा के रूप स्वरूप का दर्शन दिये के प्रकाश में ही होता है पर बूढ़ा नीलकंठ मंदिर में खुले आसमान के नीचे शेष

सुबह-सुबह हलकी सुहावनी धूप में आपको भक्त जन मंदिर के प्रांगण में चिड़ियों के चुगने के लिए दाना बिखेरते दिखेंगे और सैकड़ों दाना चुगते पक्षियों को देखकर आपका मन प्रसन्न होगा। मंदिर का सारा प्रांगण मन को मोहने वाला है। एक ओर छोटे छोटे गुरुकुल के बच्चे वेदपाठ करते हैं तो कहीं महिलायें परिसर में बने अनेक देवी देवताओं की पूजा अर्चना करती दिखेंगी। आपको संभवतः यह जानकार विस्मय होगा कि नेपाल में सप्ताह का पहला कार्यदिवस रविवार है न कि भारत की तरह सोमवार। सप्ताह में शनिवार अवकाश का दिन है और मंगल मूर्ति संकटमोचन हनुमान का भी दिन है इसलिए शनिवार को मंदिर के विशाल प्रांगण में विवाह आदि मंगल कार्य भी संपन्न होते आपको दिखेंगे।

मंदिर का प्रमुख द्वार वह है जो विग्रह के मुख के सामने का द्वार है और वह एक गलीनुमा छोटी सड़क पर है जो पहाड़ी की ओर जाता है और जिसमें प्रवेश करते ही एक बहुत बड़ा सुन्दर पवित्र घंटा आपको दिखेगा और घंटे के सामने बनी खिड़की से आप भगवान विष्णु की सुन्दर प्रतिमा को देख सकते हैं। बड़े घंटे के सामने ही तुलसी का बड़ा चौबारा है जिस पर सुगन्धित दीप, अगरबत्ती आदि जलाकर तुलसी माता की आराधना भक्त करते हैं। मंदिर के शय्या पर लेटे खुले आकाश की ओर सौम्य मुद्रा में निहारते भगवान विष्णु को देखकर एक विलक्षण अनुभूति होती है जिसका अनुभव ही किया जा सकता है, शब्दों में जिसे बताया नहीं जा सकता।

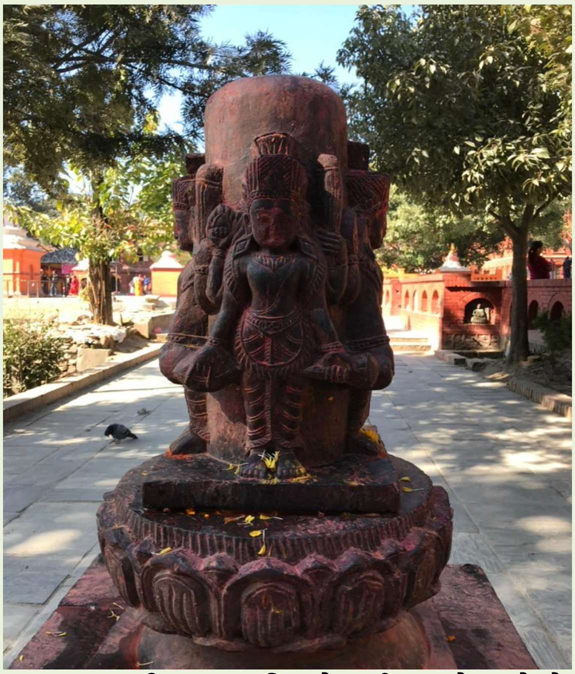

बूढ़ा नीलकंठ मंदिर के परिसर में जाने के लिए चारों दिशाओं में चार प्रवेश द्वार हैं जिनसे श्रद्धालु मंदिर में प्रविष्ट हो सकता है। परिसर के बीचो- बीच विशाल जल कुंड में शेषशायी भगवान विष्णु की विशाल लेटी हुई सुन्दर प्रतिमा आपको दिखेगी। जलकुंड को चारों ओर से घेरती हुई ऊँची दीवारों के बीच बने हुए स्थानों से भी भक्तजन ऊपर से ही भगवान विष्णु के दर्शन कर सकते हैं और यदि वे चाहें तो नीचे जलकुंड तक जाने के लिए बनी हुई सीढ़ियों से जलकुंड तक जाकर विष्णु जी की अर्चना वन्दना कर सकते हैं।

बड़े परिसर में अनेक छोटे छोटे देवी देवताओं के मंदिर हैं जिनके अन्दर कोई पुजारी होता है जो पूजा अर्चना में श्रद्धालुओं की सहायता करता है।

इस प्रमुख द्वार के ठीक सामने वाला प्रवेश द्वार प्रतिमा के सिर की ओर है। इस द्वार के साथ परिसर का बड़ा बाज़ार है जहाँ आपको हर प्रकार का सामान मिलेगा और यह मार्ग पहाड़ी की ओर चला जाता है। मंदिर के तीसरे द्वार पर छोटी छोटी पूजा की सामग्री बेचने वाली मिठाई की दुकाने हैं और कुछ छोटे छोटे जलपान गृह हैं जहाँ से भक्तगण पूजा के लिए श्रद्धानुसार फल, फूल, अगरबत्ती, शंख, शालिग्राम की बटिया आदि खरीदते हैं। मंदिर परिसर का चौथा द्वार इस द्वार के ठीक सामने हैं और इस

द्वार के साथ लगा हुआ स्थान पुजारियों,छात्रों और विविध कर्मचारियों के रहने के लिए बना विशाल भवन है जहाँ मंदिर के महंत जी का रहने का स्थान है जिसे महंत भवन भी कहा जाता है। मंदिर का सम्पूर्ण परिसर बहुत बड़ा, सुन्दर, साफ़, हवादार और व्यवस्थित हैं। बूढ़ा नीलकंठ मंदिर हर पर्यटक के मन को मोह लेता है और हर एक के मन में आस्था का भाव जगाता है।

बूढ़ा नीलकंठ मंदिर में हरिबोधिनी एकादशी जो प्रतिवर्ष कार्तिक मास (अक्टूबर–नवम्बर) को होती है वहां हजारों की संख्या में मंदिर में दर्शनार्थी आते हैं, बड़ी रौनक होती है और एक बड़ा सा मेला लगता है। यह एक विशेष पर्व है जब भगवान विष्णु गहरी लम्बी नींद से सोकर जगते हैं। पर्यटकों के लिए यह मेला बड़ा आकर्षण का केंद्र होता है। मंदिर के चारों प्रवेश द्वारों को विशेष रूप से सजाया जाता है।

इस दिन महाविष्णु के विग्रह की विशेष सजावट होती है। सर पर मुकुट, बाहँ में बाजूबंद, पैरों में सुन्दर आभूषण आदि से सुसज्जित मूर्ति की शोभा देखते ही बनती है। स्त्रियां लाल-पीली सुन्दर साड़ियों में सजी सँवरी परिवार सहित बड़े श्रद्धाभाव से लम्बी लाइन में घंटों खड़े रहकर मूर्ति पर जाकर फल फूल चढ़ाकर प्रभु से अचल सौभाग्य का वरदान चाहती हैं। मान्यता है कि मंदिर में महाविष्णु की पूजा अर्चना से व्यक्ति के मनोरथ सफल होते हैं।

*****

भारतीय सामासिक संस्कृति और राजभाषा हिन्दी

डॉ. राजेंद्र गौतम
906, झेलम, प्लाट संख्या 8,
सेक्टर 5, द्वारका,
नई दिल्ली – 110075

भाषा में नए शब्दों का समावेश किसी विशेष आवश्यकता के कारण होता है। स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व 'सामासिक संस्कृति' पदबंध के प्रयोग की कोई विशेष श्रृंखला दिखाई नहीं देती। भारतीय संविधान में राजभाषा संबंधी व्यवस्थाओं के संदर्भ में अनुच्छेद 351 में इसका विशेष उल्लेख हुआ है। 'सामासिक संस्कृति' का अंग्रेज़ी अनुवाद 'कंपोजिट कल्चर' किया जाता है। स्पष्ट है कि यह अनुवाद शाब्दिक उतना नहीं है, जितना भावात्मक। सामासिक शब्द समास से बना है। व्याकरण के संदर्भ में वह दो या अधिक शब्दों के संयोजन से तीसरे भिन्नार्थी शब्द के बनने का अर्थ देता है। उसे हम 'कंपाउंड वर्ड' कह सकते हैं। कंपोजिट शब्द भी विज्ञान के कंपाउंड की अवधारणा को ही व्यक्त करता है। 'कंपाउंड' (यौगिक) पदार्थों के साधारण मिलन की अपेक्षा विशेष मिलन को परिभाषित करता है। इसकी समानांतर क्रिया 'मिश्रण' से यह दो रूपों में भिन्न है। एक तो मिलाए गए पदार्थ यौगिक में अलग-अलग अस्तित्व नहीं रखते, दूसरे रासायनिक क्रिया से जिन पदार्थों को मिलाकर नया पदार्थ बनता है, उसके रासायनिक गुण मूल पदार्थों से भिन्न हो जाते हैं। सांस्कृतिक विकास में भी यही प्रक्रिया साकार होती है। 'सामासिक संस्कृति' संस्कृतियों का कुछ इस तरह से मिलन है, जिसमें अलगाव नहीं, संश्लेषण है। इस संश्लिष्टि में गहरा समायोजन है बल्कि सामासिक संस्कृति में रसायन-शास्त्र के 'इक्विलिब्रियम ऑफ इक्वेशन' वाला संतुलन भी विद्यमान रहता है। यह विज्ञानपरक व्याख्या जहाँ भारतीय सामासिक संस्कृति के एक पक्ष को समझने में सहायक है, वहीं 'भारतीय' शब्द की व्याख्या इस पदबंध के दूसरे पक्ष को स्पष्ट करती है। सामान्य प्रयोग में 'भारतीय' साधारण शब्द लग सकता है लेकिन संस्कृति के विशेषण के रूप में उसकी अर्थगत व्यापकता बहुत गहरी है। यह केवल 'भारत का/की' का अर्थ नहीं देता बल्कि एक व्यापक पहचान का द्योतक है। वह भारत की आत्मा को, उसके आंतरिक गुणों को, उसके स्वरूप को समाहित किए है। इस प्रकार यह एक पारिभाषिक शब्द बन जाता है। इसकी परिभाषा में संश्लिष्टता का वैसा ही गुण प्रमुख है, जिसकी चर्चा कंपोजिट और कंपाउंड के संदर्भ में की गई है।

किसी भी राष्ट्र की संस्कृति की विशेषता और स्वरूप दो निर्धारक कारक होते हैं। वे हैं- इतिहास और भूगोल। संस्कृति के आचार-विचार, जीवन-दर्शन, जीवन-मूल्य, सामाजिक संबंध, सामाजिक आचरण जैसे आंतरिक गुण हों या खान-पान, पहनावा, उत्सव-त्योहार मनाने के ढंग, जीवन-मरण-विवाह आदि बाह्य विशेषताएं हों या कि अन्य अनुष्ठान, उनका संबंध इतिहास और भूगोल से ही है। भाषा की विशेषताएं भी इन्हीं से निर्धारित होती हैं। इतिहास भाषा के विभिन्न चरणों के परिवर्तन को दिखलाता है और भूगोल उसके प्रयोगगत रूप को निर्धारित करता है।

भाषा का एक ऐतिहासिक संदर्भ भाषा-नियोजन ('लैंग्वेज प्लानिंग') से जुड़ा है। राष्ट्र के इतिहास में कई ऐसे मोड़ आते हैं, जो उसकी भाषा को प्रभावित करते हैं। सामान्य भाषा सामाजिक संदर्भों के बदलने से बदलती है और राजभाषा

शासन-परिवर्तन से। भारत में मध्यकाल में राजभाषा के रूप में फारसी को स्वीकृति मिली। भारतीय इतिहास में उपनिवेशीकरण एक और बड़ा परिवर्तन है, जिस के परिणामस्वरूप अंग्रेजी राजभाषा बनती है। फिर 14 सितंबर 1949 को एक ऐतिहासिक मोड़ तब आता है, जब संविधान में हिन्दी को राजभाषा के रूप में स्वीकृति मिलती है। ध्यान रखना होगा कि सामान्यत: भाषा के राष्ट्रीय स्वरूप को धर्म और जाति की अपेक्षा भौगोलिकता निर्धारित करती है। इसका प्रमाण यह है कि एक ही धर्म की जनसंख्या वाले कई देशों की भाषा अलग-अलग है। दूसरी ओर एक ही देश में रहने वाले अलग-अलग धर्मों के लोग समान भाषाओं का प्रयोग करते हैं। भारत इसका एक जीवंत उदाहरण है।

भाषा की दृष्टि से आंचलिक विशेषताओं का संरक्षण सामासिक संस्कृति का एक महत्वपूर्ण पहलू है। भारत जैसे बड़े भूभाग में विविधता असीम है और हिंदी के संदर्भ में यह विविधता उसकी बोलियों में पहचानी जा सकती है। हर क्षेत्र में जिन आंचलिक बोलियों का प्रयोग होता है, उनमें उनकी सांस्कृतिक अभिव्यक्तियां बहुत गाढ़े रंग में अभिव्यक्त होती हैं क्योंकि आंचलिक बोलियाँ ही लोक से जुड़ी होती हैं और लोक संस्कृति का वाहक हुआ करता है। हिंदी की अनेक आंचलिक बोलियाँ हैं। इनमें मगही, भोजपुरी, मैथिली, अंगिका, बज्जिका, नगपुरिया, छत्तीसगढ़ी, अवधी, ब्रजभाषा, बुंदेलखंडी, बघेली, मालवी, मेवाती, मारवाड़ी, हरियाणवी, गढ़वाली, पहाड़ी आदि प्रमुख हैं। ये बोलियां जिन-जिन क्षेत्रों में बोली जाती हैं, उन सब की अपनी विशिष्ट संस्कृति की पहचान है। वह पहचान इन बलियों के लोक-साहित्य में भी व्यक्त होती है और जीवन पद्धति में भी। संपर्क भाषा, राष्ट्रभाषा और राजभाषा इन बोलियों से पोषक रसायन संग्रहीत करती हैं। यही रसायन इन अंचलों की संस्कृति को भी पुष्ट करता है।

हिंदी भारत की अन्य भाषाओं से अपने गहरे रिश्ते के कारण भारतीय सामासिक संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने में और इसका प्रसार करने में सक्षम है। मैथिली इसका रोचक उदाहरण है। यह लंबे समय तक हिंदी की बोली के रूप में स्वीकार की जाती रही। बाद में अलग भाषा के रूप में उसे आठवीं सूची में स्थान दिया गया। यदि हम सांस्कृतिक दृष्टि से देखें तो उसका अपनी समीपवर्ती भाषा बांग्ला से इतना गहरा रिश्ता है कि मैथिल कवि विद्यापति को मिथिला वाले अपना कवि मानते हैं, बंगाल वाले अपना और हिन्दी वाले अपना।

बोलियों में अभिव्यक्त होने वाली भारत की सामासिक संस्कृति हिंदी के परिनिष्ठित रूप में प्रतिबिंबित होती है। संविधान के अनुच्छेद 343 में जहां उसकी सांविधिक (स्टेट्यूटरी) स्थिति निर्धारित की गई है, वहीं अनुच्छेद 351 में उसके कलेवर को, उसके शरीर को, उसके अंग प्रत्यंग को निर्धारित किया गया है। इस अनुच्छेद के अनुसार "संघ का यह कर्तव्य होगा कि वह हिंदी भाषा का प्रसार बढ़ाए, उसका विकास करे जिससे वह भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके और उसकी प्रकृति में हस्तक्षेप किए बिना हिन्दुस्तानी और आठवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट भारत की अन्य भाषाओं में प्रयुक्त रूप, शैली और पदों को आत्मसात करते हुए और जहाँ आवश्यक या वांछनीय हो वहाँ उसके शब्द-भंडार के लिए मुख्यतः संस्कृत से और गौणतः अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करे।"

इस वाक्य में संघ के तीन प्रमुख कार्य निर्देशित किये गए हैं: 1. हिन्दी भाषा का प्रसार बढ़ाना, 2. उसका विकास करना और 3. इन दोनों कार्यों के माध्यम से हिन्दी की समृद्धि सुनिश्चित करना। लेकिन प्रसार और विकास का उद्देश्य क्या होगा, यह भी इस अनुच्छेद में स्पष्ट किया गया है। वह उद्देश्य है: "हिन्दी को भारत की सामासिक संस्कृति के

सभी तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने में सक्षम करना।"

इस अनुच्छेद में आया हुआ वाक्यांश 'भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्व' अत्यंत महत्वपूर्ण है। राजभाषा के रूप में हिन्दी का यह दायित्व निर्धारित करना संविधान-सभा का विवेकसम्पन्न और महत्वपूर्ण निर्णय है। यहाँ संस्कृति के साथ 'सामासिक' विशेषण का प्रयोग भी उल्लेखनीय है। **सामासिक संस्कृति वही हो सकती है जो सभी जातियों, धर्मों, और संप्रदायों के प्रति समावेशी दृष्टि रखती हो, जो लैंगिक समानता पर आधारित हो, जो भौगोलिक क्षेत्रों, कबीलों, जनजातियों या आदिवासी समूहों से लेकर खान-पान, पहनावे, रीति-रिवाज की विविधता को स्वीकार करती हो। जो संस्कृति समग्र भारत की तस्वीर प्रस्तुत करती हो, वही सामासिक संस्कृति हो सकती है**। स्पष्टत: संविधान सभा के इस निर्णय का लक्ष्य राजभाषा के रूप में हिन्दी को देश को जोड़ने वाली भाषा बनाना था। उसके सामने यह बहुत बड़ी चुनौती थी कि इतनी सांस्कृतिक और भाषाई विविधता वाले इस देश में यह कैसे संभव होगा? अनुच्छेद 351 राजभाषा हिन्दी के कायिक (कॉरपोरल) रूप के निर्माण के लिए जो आधारभूत निर्देश देता है, वे एक ओर हिन्दी को भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने में सक्षम हैं, दूसरी ओर वे भाषाई विविधता को बाधक मानने की अपेक्षा उसे स्वयं एक समृद्ध संसाधन बना देते हैं।

अनुच्छेद 351 के अनुसार संघ का दायित्व होगा—'हिन्दी की समृद्धि सुनिश्चित करना'। इस समृद्धि से आशय उसके शब्द-भंडार की समृद्धि है। पहले तो इस बात पर बल दिया गया कि हिन्दी की मूल प्रकृति में हस्तक्षेप नहीं करना है, फिर भी उसे हिन्दुस्तानी और आठवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट भारत की अन्य भाषाओं में प्रयुक्त रूप, शैली और पदों को

सामासिक संस्कृति वही हो सकती है जो सभी जातियों, धर्मों, और संप्रदायों के प्रति समावेशी दृष्टि रखती हो, जो लैंगिक समानता पर आधारित हो, जो भौगोलिक क्षेत्रों, कबीलों, जनजातियों या आदिवासी समूहों से लेकर खान-पान, पहनावे, रीति-रिवाज की विविधता को स्वीकार करती हो। जो संस्कृति समग्र भारत की तस्वीर प्रस्तुत करती हो, वही सामासिक संस्कृति हो सकती है।

आत्मसात करते हुए यह समृद्धि प्रदान करनी होगी। हम जानते हैं कि वर्तमान में आठवीं अनुसूची में भारत की प्रमुख 22 भाषाएँ हैं। इन भाषाओं में प्रयुक्त रूप, शैली और पदों को आत्मसात करने का अर्थ है, सम्पूर्ण भारत की भाषा-संपदा का दोहन और सदुपयोग करना। आवश्यक या वांछनीय स्थिति में हिन्दी के शब्द-भंडार को समृद्ध करने के लिए जहाँ अन्य भाषाओं से गौणतः शब्द-ग्रहण के लिए कहा गया है, वहाँ मुख्यतः संस्कृत से शब्द-ग्रहण करने का निर्देश है। ये दोनों स्थितियाँ बहुत महत्वपूर्ण हैं। संस्कृत से शब्द-ग्रहण करने दिशा-निर्देश इतिहास के गर्भ में जाकर भी भारत की सामासिक संस्कृति की रक्षा का संदेश लिए है। महत्वपूर्ण यह है कि यदि संस्कृत मूल के शब्दों को लेना भारत के ज्ञान-विज्ञान और संस्कृति से भाषा को जोड़ना है तो उन शब्दों से हिन्दी को काटने का परिणाम हिंदी को एक समृद्ध आधार से काटना भी होगा क्योंकि जब कोई शब्द मरता है तो वह अकेला नहीं मरता। शब्दों के परिवार होते हैं, संबंध होते हैं। एक शब्द के विलुप्त होने से उससे संबद्ध पूरा परिवार विलुप्त हो जाता है। हम कुछ शब्दों के उदाहरण से इसको समझ सकते हैं। जब हम भारतीय मूल के शब्दों को लेते हैं तो यहां के ज्ञान-विज्ञान की परंपरा को हम इसके माध्यम से समझ सकते हैं। जैसे एक शब्द है—परमाणु! भौतिकी और रसायन-शास्त्र में हम इसका प्रयोग एटम के लिए करते हैं। एटम मूलत: यूनानी शब्द है। यूनानी भाषा में

'ए' का अर्थ हुआ 'नहीं' और 'टॉम' का अर्थ हुआ काटना। एटम का अर्थ हुआ जिसको आगे काटा नहीं जा सकता। सन् 1803 ई. में डाल्टन ने शब्द के इस अर्थ को ही ग्रहण करके तत्वों को परिभाषित करने के लिए एटम को भी परिभाषित किया और उसे रासायनिक क्रिया की लघुतम इकाई बताया लेकिन यदि हम भारतीय ज्ञान की मामांसा करें तो हमें पता चलता है कि डाल्टन से 2000 वर्ष पूर्व एक और व्यक्ति हुआ उसका नाम था कणाद। कणाद के सामने एटम की अवधारणा भी थी और मॉलिक्यूल की भी क्योंकि इनके प्रतिनिधित्व के लिए अणु और परमाणु शब्दों का प्रयोग हुआ है। परमाणु अर्थात् परम अणु-- जिसका आगे विभाजन नहीं हो सकता। कल्पना कर सकते हैं की ज्ञान की वह स्थिति भारत की सामासिक संस्कृति से जुड़ी हुई है और आज हिंदी यदि उन संस्कृत शब्दों को स्वीकार करने के लिए संविधान में निर्देश पाती है तो निश्चित रूप से यह महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। एक और शब्द लीजिए 'प्रतिष्ठा'। संस्कृत में एक समय तक प्रतिष्ठा शब्द धरती (earth) के लिए, प्रयुक्त होता रहा लेकिन यह आश्चर्यजनक है कि आर्यभट्ट के बाद प्रतिष्ठा शब्द का प्रयोग इस अर्थ में नहीं हुआ क्योंकि आर्यभट्ट ने समझ लिया था की धरती प्रतिष्ठित नहीं है अर्थात एक ही स्थान पर नहीं खड़ी है बल्कि वह सूर्य का चक्कर काट रही है और प्रतिष्ठा शब्द अब धरती का पर्यायवाची है। यह भी भारतीय सामासिक संस्कृति का रूप हमारे सामने प्रस्तुत करता है। चिकित्सा के क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाला शब्द कफ हम सबके लिए परिचित है और हम cough के रूप में उसे लिखा देखकर यह भी मानकर चलते हैं कि यह विदेशी भाषा का शब्द होगा जबकि यह हिंदी में प्रयुक्त होने वाला शुद्ध संस्कृत शब्द है। 'क' का अर्थ है जल और 'फ' का अर्थ है- विस्तार। कफ का अर्थ हुआ, शरीर में जलीय तत्त्वों का विस्तार। यदि हम इस शब्द के भारतीय मूल को नहीं जानते हैं तो हम आयुर्वेद में प्रयुक्त होने वाली वात, पित्त और कफ के संतुलन की अवधारणा को नहीं समझ सकते। यही स्थिति ग्रह की है। दो शब्द हैं-- गृह और ग्रह। गृह को हम 'होम' कहते हैं और ग्रह को 'प्लेनेट'। लेकिन दोनों के मूल अर्थ एक ही धातु से निकले हैं, जिसका अर्थ है-- पकड़े रहना। घर भी हमें पकड़े रखता है, हम कार्यालय से लौट कर घर ही जाते हैं और ग्रह भी अपनी धुरी को—अपनी कक्षा को-- पकड़े रहता है। शब्दों के भीतर सांस्कृतिक अर्थ कैसे भरे हुए हैं, यह हमें पहचानना होगा इसीलिए संविधान में जो संस्कृत मूल के शब्दों को ग्रहण करने का निर्देश है, वह भारत के ज्ञान-विज्ञान के माध्यम से इसकी सामासिक संस्कृति से हिंदी को जोड़े रखने के लिए ही है।

हिंदी एक विशेष भौगोलिक क्षेत्र की भाषा है। भाषा की दृष्टि से इस क्षेत्र को किसी समय मध्य-देश भी कहा गया। इसके अंतर्गत आज के राजस्थान, हरियाणा, दिल्ली, उत्तराखंड, उत्तर प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, बिहार, झारखंड, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ राज्य आते हैं। भाषा के कुछ परिवार होते हैं, जैसे एक भारोपीय परिवार है जिसमें भारत और यूरोप की भाषाएं आती हैं। फिर आगे उनका अग्रिम विभाजन हो जाता है भारोपीय परिवार की भारत से जुड़ी हुई भाषाएं गुजरात से लेकर अरुणाचल प्रदेश तक और कश्मीर से लेकर महाराष्ट्र तक बोली जाती हैं जबकि दक्षिण भाषाओं का एक अलग परिवार है, जिसकी चार प्रमुख भाषाएं तमिल, तेलुगू, कन्नड़ और मलयालम भारत के विभिन्न प्रांतो में बोली जाती हैं।

आरंभ में हमने भाषा के संदर्भ में इतिहास और भूगोल की भूमिका का उल्लेख किया है। भारत की सांस्कृतिक विविधता का दायित्व भी इन्हीं पर है। इतिहास ने एक खास तरह की विविधता पैदा की है तो भूगोल ने दूसरी तरह की। इतिहास द्वारा स्थापित विविधता के कारण यहां अनेक धर्मों और जातियों के लोग रहते हैं, आदिवासी कबीले भी यहां है और अति नागरिक परिवेश में रहने वाले लोग भी। उनके अपने-अपने सांस्कृतिक रूप हैं। सामासिक संस्कृति इन

सभी रूपों से मिल कर बनी है। दूसरी ओर भूगोल ने पहनावे, खानपान, रहन-सहन और घर-बार की व्यवस्था में एक विविधता पैदा की है। खास बात यह है कि यह विविधता हमें नगरीकरण से दूर ग्रामीण और आदिवासी जीवन-शैली में ज्यादा दिखाई देती है। नगरीकरण सांस्कृतिक विविधता को भी धीरे-धीरे विलुप्त करता है। भारत की सामासिक संस्कृति की विविधता इसकी बोलिया में व्यक्त होती है। हिंदी एक बड़ी छतरी है उसके नीचे बहुत सारी विविधता भरी बोलियां हैं। हिन्दी ने इन बोलियों के माध्यम से और भारत की अन्य भाषाओं के साथ मिल कर भारत की सामासिक संस्कृति को किस रूप में स्थापित किया है, इसे समझने जानने के लिए हमें इतिहास में पीछे जा कर देखना होगा। संत तुकाराम या संत ज्ञानेश्वर समाज की जिन कुरीतियों और विसंगतियों पर चोट कर रहे हैं, जाति-संप्रदाय के भेद को किस प्रकार खंडित कर रहे हैं, ठीक उसी समय अपनी अपनी क्षेत्रीय बोलियां में कबीर भी कर रहे हैं, नानक भी कर रहे हैं। खास बात यह है कि मध्यकाल में हिंदी के भक्ति साहित्य ने सामाजिक जागरण की दृष्टि से समूचे भारत के साहित्य को प्रभावित किया। यह प्रभाव सांस्कृतिक समन्वय पैदा करता है। प्रक्रिया और भाव की यह एकता भाषा की विविधता के साथ अभिव्यक्त होती है। इन संतों की भाषा में पारस्परिक आदान-प्रदान बहुत है। इसी का परिणाम यह भी होता है कि जब सूरदास ब्रज भाषा में रचना करते हैं तो उसकी अनुगूँज पूर्वोत्तर भारत में असमिया के शंकरदेव की ब्रजबुली में सुनाई देती है। उनके गीत भारतीय संस्कृति का एक समृद्ध झरोखा खोलते हैं। बाह्य रूप से तो उत्तर-पूर्व की संस्कृति दक्षिण भारत की संस्कृति से, कश्मीर, हिमाचल, उत्तराखंड की संस्कृति राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र से या अन्य-अन्य प्रांतों की संस्कृति एक-दूसरी से अलग नजर आ सकती हैं। सामासिक संस्कृति के रूप में देखने पर हम पाते हैं कि ये सारी संस्कृतियाँ मिलकर एक शानदार सघन बुनावट वाले शाल (टेपेस्ट्री) का रूपक खड़ा करती हैं, जिसकी कढ़ाई-बुनाई में हिंदी के चटक रंगों की महत्वपूर्ण भूमिका है।

संत तुकाराम या संत ज्ञानेश्वर समाज की जिन कुरीतियों और विसंगतियों पर चोट कर रहे हैं, जाति-संप्रदाय के भेद को किस प्रकार खंडित कर रहे हैं, ठीक उसी समय अपनी अपनी क्षेत्रीय बोलियां में कबीर भी कर रहे हैं, नानक भी कर रहे हैं।

आज़ादी के बाद तो संविधान सभा में लिए गए निर्णय के परिणामस्वरूप सरकार के प्रयास से हिन्दी की स्थिति बहुत बदली है। यह परिवर्तन केवल सरकारी कार्यालयों में दिखाई नहीं देता बल्कि उसकी अभिव्यक्ति सांस्कृतिक समन्वय में भी दिखाई देती है। हिंदी का यह प्रयोग कार्यालयी स्तर पर जहाँ अनिवार्य है, वहीं इसका एक भावनात्मक पहलू है। उदाहरण के लिए राजभाषा संकल्प,1968, राजभाषा नियम, 1976 तथा राजभाषा विभाग अधिसूचना 2007 के अनुसार कार्यालयी सूचनाओं का द्विभाषिक रूप में होना अनिवार्य है। रेलवे, सेना, विमानपत्तन प्राधिकरण, आयकर विभाग आदि में नामपटों आदि के संदर्भ में इसका अनुपालन होता है। इन प्रतिष्ठानों की उपस्थिति पूरे भारत में है। हिन्दी का यह प्रयोग सांस्कृतिक समन्वय की भूमिका का निर्वाह करता है। दूब के तंतुओं की तरह फैला हिंदी का व्यापक प्रयोग जन-मानस की अभिव्यक्ति है। उदाहरण के लिए जब आप तमिलनाडु में मदुरई के रेलवे स्टेशन पर उतरते हैं तो आपको स्टेशन का नाम तीन भाषाओं में दिखाई देगा। पहले तमिल में, फिर हिंदी में और फिर अंग्रेजी में। शासकीय नियम के अनुसार त्रिभाषी साइन बोर्ड में भाषा-क्रम होगा: स्थानीय भाषा, हिंदी, अंग्रेजी। द्विभाषी साइन बोर्ड में यह क्रम होगा: हिंदी, अंग्रेजी। यह समन्वय सामासिक संस्कृति की अभिव्यक्ति है।

अपने एक सम्बोधन में प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी ने भी इस बात पर बल दिया है कि आज देश की सभी भाषाओं को साथ लेकर चलने की जरूरत है और हिंदी को उनके सहयोग के साथ विकसित करने की जरूरत है। राजभाषा हिंदी का एकांगी वर्चस्व सरकार का लक्ष्य नहीं है। बल्कि समस्त भारत के बीच एक समन्वय को प्रमुखता देना उद्देश्य है। हिंदी भी संविधान की आठवीं अनुसूची की सभी भाषाओं के साथ तालमेल स्थापित करके राष्ट्र में संवाद कायम करने का प्रयास करती है। यह भी सामासिक संस्कृति का एक पक्ष है।

भारतीय सामासिक संस्कृति और हिंदी के संबंध को हम भारत के प्रमुख महानगरों में इसके प्रयोग के आधार पर विशेष रूप से समझ सकते हैं। महानगरों में हिन्दी व्यापक रूप में संपर्क भाषा के रूप में काम कर रही है। हिंदी की यह भूमिका सांस्कृतिक समन्वय की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। हिन्दी हिंदीतर क्षेत्र में खूब बोली और समझी जाती है। मुंबई, हैदराबाद, बैंगलुरु, कोलकाता, गुवाहाटी, पुणे, अहमदाबाद आदि सभी बड़े नगरों में आपको हिन्दी के माध्यम से संपर्क में कोई कठिनाई नहीं।

सामासिक संस्कृति के हिंदी में समावेश का एक रोचक उदाहरण वस्त्रों के नामों में देखा जा सकता है। जब भारत में विश्व की अनेक दिशाओं से लोग आए, यहां बसे तो उनके खानपान, वेशभूषा का यहां प्रचलन और ग्रहण हुआ तो उसी की समानांतर विभिन्न भाषाओं के शब्द भी आए। हिंदी ने उनको हँस कर स्वीकार किया। आप देखिए हमारे वस्त्रों में और सिलाई के गिने-चुने संस्कृत मूल के शब्द हैं। ज्यादातर शब्द विदेशी भाषाओं से आए हुए हैं। वे हिंदी में घुलमिल कर उसके अपने ही शब्द हो गए हैं। सूची से बनी सूई और धौत से जुड़ी हुई धोती भले ही संस्कृत मूल के शब्द हों लेकिन कुर्ता, सलवार, तहमद, लूंगी, मौजा, जुराब, कमीज, पाजामा, चादर, रजाई, लिहाफ, तकिया, दस्ताना, रुमाल, टोपी, कमीज, पेंट, बुशर्ट, कोट, टाई, दर्जी, कैंची ऐसे ही शब्द हैं। लेकिन क्या कोई आज कह सकता है कि ये शब्द हिंदी के नहीं है?

पारस्परिक सद्भाव समाज की स्थिरता का प्राथमिक आधार है। स्थिर समाज ही प्रगति-पथ पर बढ़ता है। यह सद्भाव सांस्कृतिक समन्वय पर अवलंबित है। इसकी स्थापना में भाषा की विशेष भूमिका है। जन-मन के साथ जुड़कर सामासिक संस्कृति को विकसित करते हुए हिंदी जिस तरह से सामाजिक सौहार्द्र की स्थापना में भूमिका निभा रही है, वह राष्ट्रहित का एक उज्ज्वल पक्ष है।

*****

वैदिक वाङ्मय में लोक कल्याण

डॉ. भूपेन्द्र कुमार राठौर
सहायक आचार्य संस्कृत,
(वि.स.यो.राज.सरकार)

भारतीय संस्कृति का आधारभूत स्तम्भ वेद हैं। ऋग्वेद सृष्टि सर्जना का प्राचीनतम अपौरुषेय ग्रन्थ है। वैदिक ज्ञान से ही वसुधैवकुटुम्बकम् की भावना विश्व संस्कृति एवं सभ्यता के पल्लवन का निदर्शन है। यजुर्वेद में भारतीय संस्कृति को विश्वव्यापी एव आद्या संस्कृति बताया गया है- सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा।[1] संस्कृति को परिभाषित यजुर्वेद मे किया गया है -

ओं३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद् भद्रं तन्न आसुव।।[2]

अर्थात् दुर्गुणों का परित्याग एवं सह विचारों का समावेष मानवीय कर्तव्य है। भारतीय संस्कृति का संरक्षण सर्वजनीन दायित्व है। वैदिक शिक्षाएं विश्वबन्धुत्व, विश्वकल्याण एवं वैश्विक अभ्युदय की साधक है। मानव कर्तव्य यश और कीर्ति की ओर उन्मुख होने की सत्प्रेरणा है- मनुष्य अमृत पुत्र है। शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः।[3] सम्पूर्ण जगत् परमात्मा की अलौकिक सृष्टि है-

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।।[4]

अतः परमात्मा प्रदत्त भौतिक - अभौतिक तत्व त्यागपूर्वक उपमोग के योग्य है। सद्गुणों का वाचक 'ओं३म्'की प्रतिष्ठा है, जो विश्वकल्याण की कामना करती है। जगत् कल्याण पुरुषार्थ पर ही अवलम्बित है। वैश्विक, सामाजिक तथा प्राणीमात्र की उन्नत्ति पुरुषार्थ आधारित है। परमात्मा जीवनपर्यन्त हमें पुरुषार्थ एवं ज्ञानवृद्धि हेतु प्रेरित करें - कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः।[5] अनासक्त कर्म बन्धन मुक्ति का निदर्शन है ।

श्रीमदभगवतगीता में कर्म के निष्काम भाव का देवीय संकेत है- कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन । ऋग्वेद में पुरुषार्थ परायण की विजय एवं सुख शान्ति समृद्धि की सत्प्रेरणा है-

- तरणिरिज्जयति क्षेति पुष्यति।
- यः कर्मभिर्महद्भिःसुश्रूतो भूत।
- यन्ति प्रमादमतन्द्राः।
- न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।[6]

विश्वबन्धुत्व, विश्वकल्याण आदि की पुनीत भावना वेदों में निहित है। मित्रता सद्गुण स्वरूप है, जो सुख दुःख में सहायता एवं प्रेम की पारस्परिक भावना है। ऋग्वेद में वर्णित है कि - मित्र की एक सम्पत्ति मित्र है, जो विपत्ति निवारण की सूचक है - सख्ये निधिर्हितः। ऋ. 7/67/7। सखा सखायमतरद् विषूचो।[7] वैदिक कामना है कि मानव प्रसन्नचित्त एवं मुस्कराता रहे क्योंकि हसना औषध सदृश है, जो मानव हृदय के विकार, दुर्गुण एवं दुर्भावना को दूर करके मन को सदैव प्रसन्न करता है -

विश्वदानीं सुमनसः स्याम ।
हृषीवतो विश्वे जुषन्त पन्थाम।[8]

मानव जीवन में निर्भयता मनुष्य को सदा उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करती है। इसलिए वेद का निर्देश है कि हम सदैव सुख एवं निर्भयता का अनुभव करें - स्वस्ति नो अभयं च नः।[9] समग्र सुख -शान्ति की कामना, शं योः मन्त्रांश में निहित है। सृष्टि के समस्त जीवों के कल्याण को वैदिक मन्त्रों में बताया गया है - शं नो भूतं द्विपदे षं चतुष्पदे।[10]

अस्माकं देवा उभयाय जन्मने, शर्म यच्छत द्विपदे-चतुष्पदे।

तदस्मे शं योररपो दधातन।।[11]

वैदिक भावना तो भौतिक-अभौतिक तत्वों की पूजा-अर्चना की अनुपम शिक्षा है। वह पर्वत नदी-वृक्ष-पशु-पक्षी एवं मानव सहित समस्त चराचर जगत् के कल्याण की कामना है।

अच्छे स्वास्थ्य का संकेत प्रातःकाल भ्रमण प्राणायाम आदि से है क्योंकि उषा मानव के लिए चिकित्सक स्वरूप है- **चिकित्सन्ती मानुषाय क्षयाय।**[12] सामञ्जस्य, सहृदयता और एकत्व एवं तादात्म्य को वैश्विक कल्याण का विशिष्ट साधन वैदिक उपदेश है।

प्रेमपूर्वक व्यवहार, एकत्व का दायित्वबोध मन एवं कर्म की वैचारिक एकता महत्वपूर्ण वैदिक शिक्षा है- **संगच्द्ध्वं संवदध्वं, सं वो मनांसि जानताम्।**[13] **सं मनांसि समु व्रता।** अथर्ववेद 6/74/1। विश्वशन्ति और विश्वकल्याण के लिए षट् भूमि धारक तत्वों का पालन संरक्षण और सदुपयोग अत्यन्त आवश्यक है- सत्यं बृहद ऋतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्मयज्ञः। पृथिवीं धारयन्ति।[14]

सत्य- सृष्टि सत्य व्यवहार, सत्यनिष्ठा और सत्यप्रियता पर निर्भर है।

ऋत- विश्वव्यापी प्राकृतिक नियम।

दीक्षा- कार्य के प्रति निष्ठा, आस्था, कर्तव्य बुद्धि या समर्पण की भावना।

तप- अनुशासित जीवन, अनुशासन और नियम पालन।

ब्रह्म- ईश्वर, ज्ञान और आस्तिकता। आस्तिकता समाज एवं विश्व को शान्ति और सद्भाव

सिखाती है तथा विश्वबन्धुत्व एवं विश्वप्रेम की भावना को जागृत करती है।

ज्ञ- सृष्टि रचना का प्रतीक, पर्यावरण शोधन स्वास्थ्य पुष्टिवर्धन।

अन्न और ऊर्जा राष्ट्र एवं समाज की प्रथम आवश्यकता है, जिससे राष्ट्र कल्याण सम्भव है। इस सन्दर्भ में उत्तम कृषि व्यवस्था का निर्देश है- सुसस्याः कृषिस्कृधि। यजुर्वेद 4/10। विश्वकल्याण मानवता मानव की ओजस्वी, वर्चस्वी एवं तेजस्वी विशेषता में निहित है। संयम और चरित्र उपर्युक्त विशेषता का आधार है। वेद में वर्ण व्यवस्था को तेजयुक्त बनाने हेतु परमात्मा से प्रार्थना है-

रुचं नो धेंहि ब्राहम्णेषु रुचं राजसु नस्कृधि।

रूचं विश्येषु शूद्रेषु.।[15]

चराचर जगत् के कल्याण की कामना वैदिक उद्घोष है - विश्वस्य अरिष्ट्ये। यजुर्वेद 2/3।

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दुग्भाग भवेत।।

वैदिक सन्देश हैं कि- नदियां, वृक्ष, वनस्पति, रात्रि, दिन, वायु, पृथ्वी, द्युलोक, सूर्य, चन्द्र आदि सदैव संसार को मधुरता प्रदान कर रहे है। उनसे शिक्षा लेते हुए हमें भी जीवन में मधुरता का प्रसार करना चाहिए, जिससे पारस्परिक प्रेम, सद्भाव एवं विश्वकल्याण की अभिलाषा पूर्ण हो -

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः।
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमां अस्तु सूर्यः।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः।।[16]

सरस्वती ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी है, वह मानव को कर्तव्य-अकर्तव्य के विवेक की बुध्दि देती है। असतो मा सद्गमयः, तमसोर्मा ज्योतिर्गमयः की प्रवृत्ति मानवीय कल्याण प्रदायक ईश्वरीय शक्ति हैं। सद्भावों एवं सद्विचारों से सुख एवं समृद्धि का आविर्भाव होता है- **विश्वं ज्योतिर्यच्छ।** यजु. 13/24। **तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।** मन के शिवसंकल्प स्वरूप में जगत् का सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान प्रतिष्ठित है। मन आन्तरिक अमर ज्योति हैं, जिसमें सम्पूर्ण भावनाएं समाहित है - **आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः।** शुभ विचारों का प्रेरणास्पद सन्देश है, जिससें मानव जीवन निरन्तर उन्नति की ओर अग्रसर होता है। विश्व में सर्वत्र शान्ति की कामना वैदिक महत्ता का अनुपम निदर्शन है-

द्यौःशान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः,

सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः। यजुर्वेद-36/17।

सदैव प्रगतिशील बने रहे, साहस के द्वारा ही व्यक्ति निरन्तर उन्नति करता हैं। स्वावलम्बी मनुष्य प्रगतिपथ पर अग्रसर होते है। इस प्रसंग में वे अन्य किसी से सहयोग की कामना नहीं करते - **स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी।** विश्वकल्याण के लिए मनुष्य का यशस्वी, मेधावी और विद्वान् होना

॥ शांति पाठ ॥

ॐ द्यौ: शान्तिरन्तरिक्षँ शान्ति:,
पृथ्वी शान्तिराप: शान्तिरोषधय: शान्ति:।
वनस्पतय: शान्तिर्विश्वे देवा: शान्तिर्ब्रह्म शान्ति:,
सर्वँ शान्ति:, शान्तिरेव शान्ति:,
सा मा शान्तिरेधि।
ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति:॥

अनिवार्य है। संसार में अहिंसा एवं शान्ति होना अत्यावश्यक है, जिससे समाज एवं राष्ट्र की अखण्डता बनी रहें। वेद स्वालम्बन के आधार पर जीवन में निरन्तर उन्नति की शिक्षा देता है- **स्वर्यन्तो नापेक्षन्त.....। यज्ञं ये विश्वतो धारं सुविद्वांसो वितेनिरे।**[18]

मानव के आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक, स्वास्थ्य, आर्थिक, सामाजिक और आचार -विचार सम्बन्धित सभी सद्गुण वेदों में हि प्राप्त होते हे। मनु का चिन्तन है- **सर्वज्ञानमयो हि सः।** जनकल्याण का सर्वोत्तम उपाय अध्यात्म है, जिसकी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति परमात्मा के चरणवन्दन से होती है । परमात्मा पर सत्ता है- **तदन्तरस्यसर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः। अणोरणीयान् महतो महीयान्।** वह सर्वज्ञ, स्वयम्भू, सर्वशक्तिमान्, कान्तद्रष्ट तथा समस्त ब्रह्माण्ड का स्रष्टा है। यजुर्वेद मनुष्य को भौतिक और आध्यात्मिक शक्तियों से पूर्ण होने की प्रेरणा देता है- **यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु।।**[19] ब्रह्माण्ड प्रकृति-जीवात्मा एवं परमात्मा का आधारस्वरूप है। वह परमात्मा एक है, उसकी विभिन्न शक्तियों के कारण उसको अनेक देवों के नाम से अभिहित किया गया है- **एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति। अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।**[20]

परमात्मा ही वास्तविक माता-पिता है - **त्वं हि नः पिता वसो**। ईश्वरकर्म फल प्रदाता है- **ईश्वरेच्छा बलीयसी।** सुख और दुःख को समान रूप से लेना प्रसन्नचित्तता का आधार है। अथर्ववेद की नैतिक शिक्षा है- जिस मनुष्य के हृदय में श्रद्धा-प्रेम और सहानुभूति है। उसको ही यह संसार सुख और शान्ति से युक्त प्रतीत होता है। तत्वदर्शन के लिए यजुर्वेद में बताया गया है कि मनुष्य सबको अपने तुल्य समझे, सब प्राणियों में आत्मा का ही रूप देखे। तब मनुष्य दुःख और शोक के बन्धन में नहीं पड़ता है।

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत।।[21]

अहिंसा जनकल्याण के लिए आवश्यक है- **मां हिंसीः, पुरुषं जगत्।** वैदिक ऋषियों ने दुर्गुणों के परित्याग पर बल दिया है। मद्यपान-ईर्ष्या-क्रोध-निन्दा-आलस्य आदि का त्याग कर लोक कल्याण हेतु सन्मार्ग पर चलने का निर्देश है। शुद्ध सद्भावना के वातावरण में एकत्व का अनुभव समाज और राष्ट्र की उन्नति का द्योतक हैं।

पर्यावरण संरक्षण, अन्न-जल की सुविधा, औषधालयों की व्यवस्था, शिक्षा की समुचित कार्यप्रणाली राष्ट्र निर्माण में सहायता वेद जनहित एवं सर्वाङ्गीण विकास का सन्देश देते है। साहसे श्रीः वसति अर्थात् साहस में लक्ष्मी का निवास है। पुरुषार्थ लक्ष्मी को अपनी ओर खींच लेता हे। पुरुषार्थ के लिए उच्च जीवन, सदाचार, सयंम और सहानुभूति की आवश्यकता है। धन, समृद्धि और ऐश्वर्य अपने प्रयत्न ओर पुरुषार्थ से ही प्राप्त होते है। स्वावलम्बन ही उन्नति ओर विकास का उत्तम साधन है।

वेदों में गो-महिमा, नारी सम्मान, सदाचार, तप, प्रकृति संरक्षण, चिकित्सा व्यवस्था, यज्ञ, द्यावापृथिवीसंरक्षण, जलसंरक्षण आदि का व्यापक वर्णन है। तपोवन पर्यावरण शुद्धि के साथ आत्मसंयम की प्रेरणा देते है। स्वार्थी मनोवृत्तियों का निराकरण कर, सर्वसाहचर्य तथा परस्पर उपकार का उपदेश देते है, जिससे मानव शोषणकारी प्रवृत्तियों से विमुख होकर स्नेहमय सह अस्तित्व स्थापित करता है। वाल्मीकि रामायण में पूज्यपूजा, अहिंसा, रक्षितव्य-रक्षण, मृगया-विमुखता, वर्णाश्रम व्यवस्था, प्राकृतिक संरक्षण, पुरुषार्थ चतुष्टय सिद्धि, राजधर्मानुशासन, तपोवनरक्षण आदि कर्तव्य बोध नैतिक पर्यावरण की शिक्षा देते है।

भारतीय ऋषियों ने प्रकृति के साथ अत्यन्त श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक तादात्म्य स्थापित करते हुए कहा है- माता भूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्याः अर्थात् पृथ्वी हमारी माता है और हम पृथ्वी के पुत्र है। पंचभौतिक तत्वों का देवत्वस्वरूप स्पष्ट कर प्रकृति सरंक्षण की शिक्षा आज भी प्रांसगिक है। भारतीय संस्कृति का मूलाधार ही पर्यावरण के प्रति प्रेम एवं उदात्त मानवीय चेतना से परिपूर्ण दिखाई देता है। प्रकृति निःस्वार्थ भाव से मानव का सदैव निरतिशय उपकार करती है।

संस्कृत वाङ्मय में निहित पुरुषार्थ चतुष्टय की सार्थक अनुपालना समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, कदाचार, आंतकवाद जैसी भंयकर समस्याओं के निवारण में समर्थ है। भारतीय संस्कृति में त्याग व दान की महत्ता है। त्यागी व दानी समाज व राष्ट्र में सर्वत्र पूजनीय है। इसके विपरीत अकेला खाने वाला पाप का उपभोग करता हे- केवलाघो भवति केवलादी। कृषि कार्य सम्मानप्रद है- कृषिमित् कृषस्व। स्वराष्ट्र की रक्षा में सदा जागरुक रहे- वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः। सदैव राष्ट्र की रक्षा में प्रयत्नशील रहे- उतिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।[22] सत्य की महत्ता वेद निर्देशित है- सत्यमेव जयते नानृतम्। अतः निश्चय ही भारतीय चिन्तन पद्धति में वैदिक वाङ्मय लोककल्याण की पवित्रतम धरोहर है-

ओं३म् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

ओं३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

निष्कर्षतः वेदों में विश्व शांति के लिए प्रार्थना की गई है क्योंकि शांति राष्ट्र के विकास में सहायक होती है। वेदों में सभी जीव से प्रार्थना की गई है कि सभी सुखी एवं प्रसन्न हो। मानव की प्रगति में प्रकृति का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। प्रकृति भी मानव जाति की विकास में सहायक होती है। संस्कृत में विश्वबंधुत्व, लोककल्याण, समानता, परोपकार इत्यादि की भावना सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार सदैव से ही भारतवासी **सर्वे भवंतु सुखिनः, कृण्वंतो विश्वमार्यं** के पक्षधर रहे हैं।

सन्दर्भ संकेत:-

1. यजुर्वेद 30/3।
2. यजुर्वेद।
3. यजुर्वेद 11/5।
4. ईशावास्योपनिषद् मन्त्र -1।
5. ईशावास्योपनिषद् मन्त्र -2।
6. ऋग्वेद -7/32/9, 3/36/1, 8/2/18, 4/33/1।
7. ऋग्वेद-7/67/7।
8. ऋग्वेद-6/52/5। 1/127/6।
9. अथर्ववेद- 11/2/31।
10. ऋग्वेद 6/74/1।
11. ऋग्वेद 10/37/1।
12. ऋग्वेद 1/123/1।
13. ऋग्वेद 10/191/2।
14. अथर्ववदे 12/1/1।
15. यजुर्वेद 18/48।
16. यजुर्वेद 13/27/29।
17. यजुर्वेद 17/68।
18. यजुर्वेद 17/68/।
19. यजुर्वेद 32/8।
20. ऋग्वेद 1/164/46।
21. ईशावास्योपनिषद् मन्त्र - 7 ।
22. कठोपनिषद् - 1/3/14।

सन्दर्भ ग्रन्थ -

1- **ऋग्वेद** संपादक - वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं. श्री राम आचार्य, भगवती देवी शर्मा

प्रकाशक - युग निर्माण योजना विस्ता र ट्रस्ट गायत्री तपोभूमि, मथुरा सन् 2013 ।

2- यजुर्वेद संपादक - वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं. श्री राम आचार्य, भगवती देवी शर्मा

प्रकाशक - युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट गायत्री तपोभूमि, मथुरा सन् 2013 ।

3- अथर्ववेद संपादक - वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं. श्री राम आचार्य, भगवती देवी शर्मा

प्रकाशक - युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट गायत्री तपोभूमि, मथुरा सन् 2013 ।

4- ईशावास्योपनिषद्

व्याख्याकार डॉ. विश्वनाथ शर्मा आदर्श प्रकाशन चौउा रास्ता जयपुर ।

5- कठोपनिषद् व्याख्याकार डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा

जगदीश संस्कृत पुस्तकालय. जयपुर सन् 2011 ।

6- संस्कृत वाङ्मय में पारम्परिक ज्ञान विज्ञान

डॉ. शोभा भारद्वाज युवराज पब्लिकेशन, आगरा सन **2022।**

7- वंदों में लोक कल्याण पद्म श्री डॉ. कपिल द्विवेदी प्रकाशन, विश्व भारती अनुसंधान परिषद, ज्ञानपुर भदोही।

*****

पंजाब के लोक नृत्य

प्रोफेसर सुखदेव सिंह मिन्हास
(सेवानिवृत्त)
स्नातकोत्तर राजकीय महाविद्यालय,
चंडीगढ़

लोक नृत्य एक प्रकार की लोक कला ही है। यह न केवल मनोरंजन का साधन है, बल्कि यह किसी क्षेत्र के लोगों के सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक, धार्मिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक जीवन की विभिन्न परतों की शारीरिक मुद्राओं के माध्यम से अभिव्यक्ति है जो कि लगातार वंशानुगत ढंग से प्रवाहमान रहती है। लोक नृत्य से तात्पर्य यह है कि यह नृत्य किसी भी क्षेत्र या प्रदेश के साधारण लोगों के अपने आन्तरिक मनोभावों, आनंद, उल्लास और खुशी को गीत, संगीत और शारीरिक चेष्टाओं और मनोभावों के सहज और स्फूर्त ढंग से अभिव्यक्त करने का जरिया होते हैं। इनमें समय, स्थान और नृत्य करने वालों की संख्या सम्बन्धी कोई पाबंदी नहीं होती। इनसे सम्बंधित वाद्य यंत्रों और वेशभूषा आदि भी जन साधारण की पहुँच और उनके स्तर के अनुसार ही होती है। कोई भी व्यक्ति इन नृत्यों में अपनी भागीदारी दे सकता है।

पंजाब के लोक नृत्य पंजाब के जनजीवन का महत्वपूर्ण अंग हैं। पंजाब में पांच हजार ईस्वी पूर्व लोक नृत्यों की परम्परा के प्रमाण मिलते हैं। ईस्वी पूर्व से लेकर अब तक इसमें अनेक भौगोलिक, सामाजिक और विशेषतया ऐतिहासिक परिवर्तन आ चुके हैं। अनेक जन-जातियां जिनमें द्रविड़ों से लेकर अंग्रेजों का शासन काल शामिल है, ने इस क्षेत्र के सांस्कृतिक इतिहास को नवीन दिशाएँ दी हैं। अनेक प्रकार की उथल-पुथल के बावजूद इस धरती पर नाचे जाने वाले लोक नृत्यों ने जन-जीवन में एक विशेष प्रकार की धड़कन और जिन्दा दिली कायम रखी है। पंजाब के अधिकतर लोक नृत्य लौकिक प्रकृति से सम्बन्ध रखते हैं। खुशी के झोंके से मस्त होकर युवक और युवतियां पैरों की थाप, लोक गीतों के सुर -ताल के साथ ढोल या अन्य किसी लोकप्रिय वाद्य यंत्र की ताल पर पंजाब की भूमि की विलक्षणता को प्रकट करते हैं। स्त्रियों और पुरुषों के लोक नृत्यों के बारे में जानकारी देने का प्रयत्न आगे किया जा रहा है।

महिलाओं के लोक नृत्य

सामाजिक स्थान, पारंपरिक विचार, मान्यताएँ, मिथक, रीति-रिवाज, शारीरिक संरचना और प्रदर्शन महिलाओं के लोक नृत्यों की प्रकृति को निर्धारित करते हैं। अन्य प्रांतों की महिलाओं की तुलना में पंजाबी युवतियां भले ही मजबूत इरादों वाली, भरे-पूरे शरीर वाली और लंबी होती हैं, लेकिन उनके नृत्य कोमलता, सुंदरता, सरलता, प्रवाह और लचीलेपन से भरे होते हैं। कोई भी मंगल कार्यक्रम महिलाओं के लोक नृत्य से रहित नहीं है। वाणी और शरीर के अंगों के उच्चारण द्वारा प्रस्तुत विभिन्न मुद्राएँ प्राकृतिक अर्थ के साथ संस्कृति की अभिव्यक्ति बन जाती हैं।

पंजाबी महिलाओं के प्रसिद्ध पंजाबी लोक नृत्य –**गिद्दा**

गिद्दा लोक नृत्य पंजाब की महिलाओं की उमंगों, इच्छाओं, लालसाओं और खुशियों को अभिव्यक्त करता है। गिद्दा वास्तव में एक ताली नृत्य

है। नृत्य कर रही महिलाएं घेरे में खड़ी होकर ताली बजाती हैं। तालियों का प्रवाह लोकगीतों के मुख्य रूपों- बोली और टप्पों के साथ-साथ चलता है। इन टप्पों और बोलियों में व्यक्त भावों को नृत्य मुद्राओं द्वारा दर्शाया जाता है। गिद्दे में ताली और वाणी का सामंजस्य बनाए रखने के लिए 'बल्ले-बल्ले बई, शावा-शावा' आदि शब्दों को एक साथ निस्तेज स्वर में जोड़ा जाता है। इस नृत्य में एक युवती बोली (गीत) डालती है, अन्य लड़कियां उसके संग आवाज मिलाती हैं। पैरों की थाप , हाथों की तालियाँ, भुजाओं की हरकत, होंठों द्वारा निकाली गयी ध्वनि, किसी का स्वांग बना कर, लड़ाई का दृश्य सृजन कर और जमीन पर बैठ कर कई प्रकार की युक्तिओं के साथ गिद्दा की पेशकारी की जाती है। पंजाबी युवतियां अपनी सभी गतिविधियों में से गिद्दा नृत्य के लिए अवसर पैदा कर ही लेती हैं। ऋतुओं, मेलों, उत्सवों और त्योहारों के अलावा चरखा कातने के बाद, सावन के महीने में तीयां के अवसर पर, बच्चे के जन्म, विवाह या किसी अन्य खुशी के मौके पर एकत्र होकर अपना शौक पूरा कर लेती हैं। उन्हें इस नृत्य के लिए किसी खास स्थान या स्टेज की जरुरत नहीं होती। वे बच्चे के जन्म, सगाई या विवाह, जागरण या किसी अन्य खुशी के अवसर पर एकत्र होकर गिद्दा डालती हैं। घर का आंगन, खुली छत, खुला कमरा, खेत या मैदान आदि सभी गिद्दे के लिए उपयुक्त स्थान हैं। इसमें धर्म, संप्रदाय, जाति आदि का कोई स्थान नहीं है। गिद्दा राग और लय की दृष्टि से भी स्वतंत्रता का धारक है। यह वाद्ययंत्रों का मोहताज भी नहीं है, हालाँकि ढोलकी का प्रयोग आजकल आम है। मुँह से फूंक मारने से, 'बल्ले बल्ले ' करने से, एड़ियों को जमीन पर पटकने से या किलकारी मार कर तेज ताली की ध्वनि के साथ ही वाद्ययंत्रों जैसी ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। गिद्दा प्रस्तुत करने वाली युवतियां रंग-बिरंगे सूट-सलवार, ओढणी, घाघरे तथा कई प्रकार के आभूषण पहन कर अपने आप को सुसज्जित करती हैं। इस तरह युवतियों के पास न तो शब्द खत्म होते हैं और न ही वे थकती हैं। इसीलिए गिद्दे को पंजाब का सिरमौर लोकनृत्य माना गया है।

सम्मी

सम्मी महिलाओं के लोक नृत्यों में से एक प्रमुख नृत्य है। यह लोक नृत्य प्यार, मोहब्बत, जुदाई और हर ख़ुशी के मौके पर किया जाता है। इस नृत्य में जहाँ महिलाओं की दबी हुई इच्छाओं और भावनाओं को अभिव्यक्त किया जाता है और वहीं इसमें सामाजिक, धार्मिक, और पौराणिक संकेत भी प्रस्तुत किये जाते हैं। इसके आलावा इस लोक नृत्य में पक्षियों, पेड़ों, जानवरों आदि का जिक्र भी दिखाई देता है। इस नृत्य को 'डांस ऑफ़ लव' भी कहा जाता है जो महिलाओं के सर्वांगीण जीवन की छवि प्रस्तुत करता है। यह एक मनोरंजक और चंचल नृत्य है जिसके माध्यम से युवतियां अपने प्रेमी के लिए कोई न कोई सन्देश देती है। प्राचीन समय में नृत्य करने वाले स्त्रियाँ ताली और गीतों के माध्यम से ही ताल और लय उत्पन्न करती थीं मगर आजकल इस नृत्य में ढोल और मटके आदि वाद्य यंत्रों का प्रयोग होने लगा है। सम्मी लोक नृत्य के दूसरे रूप को 'सलाम सम्मी ' भी कहा जाता है। इसमें नृत्य करने वाली महिलाएं नृत्य करते समय दाहिना हाथ गर्दन पर और बायाँ हाथ माथे पर रख कर सलामी देती हैं।

पंजाब के सम्मी लोक नृत्य की विशेषता यह है कि यद्यपि यह गिद्दे की तरह गोल घेरे में किया जाता है, परन्तु इसकी मुद्राएँ गिद्दे के सजीव नृत्य से भिन्न होती हैं। सम्मी लोक-नृत्य करने वाली महिलाएँ कुछ देर खड़ी रहती हैं और अपनी भुजाएँ ऊपर उठाती हैं और फिर एक पक्षी को बुलाने का संकेत करते हुए गीत के शब्द गाती हैं।

सम्मी लोक नृत्य के जन्म और उत्कर्ष के बारे में कई सिद्धांत और मिथक हैं। एक सिद्धांत यह है कि आग जलाकर सैमी नामक पेड़ की लकड़ी के चारों ओर नृत्य करने के कारण इसका नाम 'सम्मी' पड़ गया। दूसरा सिद्धांत उस किंवदंती पर आधारित है,

जिसमें बताया गया है कि 'सम्मी' नाम की एक लड़की के बार-बार नृत्य करने के कारण यह नाम पड़ा, जो इंद्र के अखाड़े की अप्सरा की तरह बनना चाहती थी। तीसरे सिद्धांत के अनुसार ढोले के प्रेम में नृत्य करने वाली उसकी प्रेमिका सम्मी के नाम पर इस नृत्य का नाम 'सम्मी' रखा गया। इस तरह की और भी कई कहानियां मिलती हैं.

किकली

किकली सारे पंजाब में प्रचलित छोटी लड़कियों का लोक नृत्य है। लोक नृत्यों में इसकी एक अलग पहचान है। पंजाब का यह लोक नृत्य गिद्दे या अन्य लोक नृत्यों के आरंभ या अंत में महिलाओं द्वारा भी किया जाता है। दरअसल, यह पंजाब के लोक नृत्य गिद्दे की नर्सरी है। छोटी लड़कियाँ इस पंजाबी लोक नृत्य को किसी भी खुशी के अवसर पर, दो या दो से अधिक के समूह में, आंगन, खेत, खलिहान या घर की छत पर अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए छोटे-छोटे लोक गीतों के साथ करती हैं। इस तरह छोटी-छोटी लड़कियां किसी भी स्थान पर एकत्रित होकर दो-दो लड़कियों के जोड़े बना लेती हैं। जो जोड़ा समूह के बीच आकर किकली पेश करने वाला होता है उसमें से एक लड़की दूसरी लड़की का दायाँ हाथ अपने दायें हाथ और उसका बायाँ हाथ अपने

बायें हाथ में कस कर पकड़ लेती है। इसी तरह दूसरी लड़की भी करती है। इस मुद्रा में दोनों लड़कियों की दोनों बाँहों की लड़ी आठ (8) के अंक के आकार की बन जाती है। भुजायों को इस स्थिति में करने के उपरान्त ये लड़कियां अपने पैरों का भार पैरों की अँगुलियों के ऊपर डाल लेती हैं और शरीर का बाकी भार पीछे की तरफ डाल दिया जाता है और दोनों लड़कियां गोलाई में तेज गति से घूमती हैं और किकली से संबंधित लोकप्रिय लोक गीतों के बोल गाए जाते हैं। कुछ लोकगीतों में भंगिमा बनाने के लिए एक हाथ उछाला जाता है। लड़कियों के ये लोकगीत माँ, भाई, पिता के अटूट प्रेम के परिचायक हैं और तात्कालिक जीवन का चित्रण भी करते हैं।

एक उदाहरण देखें -

किकली कलीर की, पगड़ी मेरे वीर की,
दुपट्टा मेरे भाई का, फिट्टे मुंह जवाई का।

तेज गति से घूमती लड़कियों द्वारा पहने जाने वाली कांच की चूड़ियाँ झंकार पैदा करती हैं और सर पर ली हुई ओढणी गले में आकर और केशों की चोटियाँ नीचे की तरफ लटकती हुई और उड़ती हुई रोचक दृश्य पैदा करती हैं। यह तीव्र गति का नृत्य है जिसमें किसी उपकरण या विशेष पोशाक की आवश्यकता नहीं होती।

हुल्ले हुलारे

हुल्ले-हुलारे महिलाओं द्वारा किया जाने वाला हरमन प्यारा नृत्य है। पूर्वी और पश्चिमी पंजाब दोनों की महिलाओं द्वारा यह नृत्य प्रस्तुत किया जाता है। यह नृत्य हिन्दू, सिख ,मुस्लिम धर्म की महिलाओं के सिवाय और भी अनेक धर्मों की महिलाओं द्वारा किया जाता है। इस लोक नृत्य के इतिहास के बारे में अलग-अलग दन्त कथाएँ प्रचलित हैं। पुरातन ग्रंथों के अनुसार हुल्ले-हुलारे नृत्य को 'हलिसन' के नाम से जाना जाता था। कई इतिहासकारों ने इस लोक नृत्य

को देव-दासियों की नृत्य प्रथा के साथ भी जोड़ा है। नृत्य करने वाली स्त्रियों में से कोई एक नृत्य करती हुई अपनी अदाओं का प्रदर्शन करती हुई गीत की हर पहली तुक का उच्चारण करती है और उसके चारों ओर घेरा बना कर बैठी उसकी सखियाँ ऊँची आवाज में एक खास सुर और लय में 'हुल्ले-हुलारे 'शब्द का गायन करती हैं। हुल्ले-हुलारे नृत्य विभिन्न प्रकार की मुद्राओं द्वारा किये जाना वाला नृत्य है। वह पैरों के ठुमकों के साथ अपनी पाजेबों को छनकाती हुई तालियाँ मार कर तेज गति से घूमती हैं।

जागो

जागो अर्थात नींद से जागो। यह नृत्य केवल विवाह-शादियों के अवसर पर दूल्हे और दुल्हन के परिवार की तरफ से विवाह की पहली रात के समय किया जाता है। जागो आस-पड़ोस के लोगों को रात में जगाकर उन्हें नृत्य में भाग लेने की रीति का नाम है। महिलाएं सर के ऊपर जलते हुए दिए किसे बर्तन में रखकर आस पास की गलियों में नृत्य करती हुई और गीत गाती हुई आनंद के साथ शादी की खुशियाँ मनाती है

पुरुष लोक नृत्य

पंजाब के पुरुष लोक नृत्यों की भी अपनी अलग पहचान है। पंजाबियों का शारीरिक स्वास्थ्य, जीवंतता, साहस और सहनशीलता के कारण पंजाब में कठोर शारीरिक प्रशिक्षण, मानसिक और धार्मिक रुझान वाले लोक नृत्य प्रचलित रहे हैं। उनकी परंपरा प्राचीन है। इनमें पंजाब के जीवन के कई पहलू उजागर होते हैं। प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक काल के दौरान पंजाब में विभिन्न उथल-पुथल हुई, लेकिन पंजाब के लोक नृत्य पूर्ण या अपूर्ण रूप में जीवित रहे और आज हमारे सांस्कृतिक जीवन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बन गए हैं। नीचे कुछ लोकप्रिय मर्दावन लोक नृत्यों का विवरण दिया गया है।

भंगड़ा

भंगड़ा पंजाबी युवकों का प्रमुख लोकप्रिय लोक नृत्य है। इस नृत्य के बारे में कई प्रकार की दन्त कथाएँ प्रचलित हैं। कई विद्वान भंगड़ा लोक नृत्य को पकी हुई फसल देख कर किसान के ख़ुशी में नृत्यने की क्रिया के साथ जोड़ कर देखते हैं। उनके अनुसार पंजाब की मुख्य फसल गेहूं होने के कारण इस नृत्य को बैसाखी के अवसर पर पकी हुई फसल से अलग नहीं किया जा सकता। एक अन्य धारणा के अनुसार भंगड़ा नृत्य शैली का जन्म केवल भांग से ही हुआ है। उनके अनुसार भांग पी के नृत्य करने के कारण इसका नाम भंगड़ा पड़ा है। मगर किसी भी नृत्य का आरंभ उसकी शाब्दिक व्युत्पत्ति में तलाशना उचित नहीं है।

अतः कहा जा सकता है कि भंगड़ा ख़ुशी में किया जाने वाला नृत्य है और इसकी मुख्य तालें पांच हैं -भंडारा, दंगल, लुड्डी और झूमर आदि। लुडी और झूमर दो अलग नृत्य हैं जिन की कुछ भंगिमाओं और ताल को आधुनिक भंगड़े में शामिल कर लिया गया है। भंडारे की ताल यज्ञ करते समय बजाई जाती है। यह ताल सामूहिक लंगर और कबीलाई समाज के समय शिकार मारने की सामूहिक ख़ुशी को प्रकट करने वाली है जो धीमी गति और एक लय में बजने के स्वभाव वाली है। दूसरी ताल दंगल अर्थात् पहलवानी की है जो अखाड़ों में कुश्ती आरंभ होने के

समय बजाई जाती है। यह लड़ाई के स्वभाव वाली ताल है। इस लोक नृत्य की तीसरी ताल भंगड़ा ही है। यह ताल सादे और समतल रूप में बजाई जाती है जिसमे ढोल बजाने वाली लकड़ी का पतला डंडा एक ही लय में बजता है। अन्य तो तालें लुडडी और झूमर वाली ही हैं। भंगड़े में एक और ताल शिव के डमरू वाली बजाई जाती है जिसमें नर्तक छलांगें मारते हैं और क्रम अनुसार हाथों को आगे करते हुए डमरू बजाने की मुद्रा में नृत्य करते हैं।

भंगड़ा लोक नृत्य का मूल भाव मस्ती, जोश, प्यार और चाव का है। खुशी के समय किए जाने वाले इस लोक नृत्य का पहनावा भी कुछ ख़ास होता है। भंगड़ा करने वाले नर्तक रंग बिरंगे कुर्ते, लुंगी, नेहरु कट जैकट, पगड़ी और गले में ताबीज, कैंथा तथा अन्य आभूषण पहन कर नृत्य करते हैं। इस नृत्य की रीढ़ ढोल को माना जाता है क्योंकि नृत्य करते समय ढोली ने ही सारे नर्तकों को एक लय और ताल के अनुकूल नचवाना होता है इस लिए ढोल को भंगड़े की रूह कहा जाता है। लय इस प्रकार है-1 2-3 4 5 6-7 8. ढोली का साथ बोलियाँ (गीत) गाने वाला कलाकार देता है। ढोल के आलावा इस नृत्य में चिमटा, काटो, डांग,सप्प,बुगचु आदि लोक वाद्य यंत्रों का भी प्रयोग किया जाता है। वर्तमान समय में मूल भंगड़ा का स्वरूप बदल गया है तथा बोलियों के स्तर, मुद्राओं के आदान-प्रदान के स्तर तथा उपकरणों आदि की दृष्टि से भी इसमें अनेक परिवर्तन आए हैं। इसमें विदेशी नृत्य शैलियों को शामिल किया जा रहा है। कुछ लुप्त हो रहे लोक-नृत्यों की मुख्य मुद्राओं को भी इसकी चाल या भंगिमाओं का नाम मिल गया है। निस्संदेह, भंगड़ा पंजाबियों के साहस, शौर्य, वीरता और यहां की कृषि पद्धति का चित्र है। आज भंगड़ा लोक नृत्य को अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हो चुकी है।

झूमर

झूमर पश्चिमी पंजाब के संदल बार लोगों का नृत्य है। झूम - झूम कर नृत्य करने के कारण ही इसका नाम 'झूमर' पड़ा है । इसमें राजस्थान के 'घूमर' की कुछ विशेषताएं भी हैं। इस लोक नृत्य को नृत्य करने वाले सामूहिक रूप में किसी खुली जगह में गोलाई के आकार में अपने लोक प्रिय नृत्य को ढोल के बोल के माध्यम से ढोल की ताल पर करते हैं। यह धीमी लय से आरंभ होकर तीव्र लय और अति तीव्र लय में समाप्त होता है। कई विद्वान इन तालों को क्रमशः 'झूमर दी ताल', 'चीन छरना' और 'धमाल' भी कहते हैं। दरअसल, यह नृत्य शुरुआत में धीमी गति से शुरू होता है और तीसरे चरण तक काफी तेज और ऊर्जावान हो जाता है। अंतिम चरण तक कुछ ही नर्तक नृत्य करते रह जाते हैं और कुछ थक कर खड़े हो जाते हैं। इस नृत्य के दौरान लंबे गीत गाए जाते हैं जिनमें भैंस, गाय, बकरी, घोड़ी, तीतर, बटेर, खुशहाली, प्रेमियों का मिलन और अनाज, विशेषकर धान आदि इकट्ठा करने का जिक्र होता है। इस नृत्य की कुछ मुद्राएं भंगड़ा में भी प्रस्तुत की जाने लगी हैं।

लुडडी

यह लोक नृत्य पुरुषों और महिलाओं दोनों के द्वारा किया जाता है। लुडडी लोक-नृत्य पंजाब के उत्तर-पश्चिमी, अर्द्ध-पहाड़ी और कुछ मैदानी इलाकों में प्रचलित रहा है। लचीली और मनोरंजक गतिविधियों के साथ सरल और आसान होने के कारण इसे महिलाओं का नृत्य भी माना जा सकता है। एक अवधारणा के अनुसार पुरुषों द्वारा सितारों और चंद्रमा की रोशनी में बुआई की खुशी की भावना के साथ किया जाने वाला नृत्य है। लुडडी लोक नृत्य में बजाई जाने वाली ढोल की धीमी गर्जना को कहरवा ताल

कहा जाता है जिसमें चार मात्राएँ होती हैं। लुडडी लोक नृत्य में बजाई जाने वाली ताल एक ही प्रकार की होती है जो अंत में कभी धीमी और अभी तेज हो जाती है। ढोल मध्यम स्वर मगर तेज गति से बजाया जाता है। भंगड़ा और लुडडी लोक नृत्य में मूल अंतर यह है कि भंगड़ा लोक नृत्य के दौरान ढोल वादक भंगड़ा डालने वाले से कुछ दूर खड़ा होकर ढोल बजाता है मगर लुडडी नृत्य करते समय ढोल वादक को नर्तकों या नर्तकियों द्वारा बनाये गये गोल घेरे के अन्दर खड़े होकर बजाना पड़ता है। लुडडी नृत्य ढोल के चारों ओर घेरा बनाकर किया जाता है। एक साथ पैरों को उठाना, कन्धों को हिलाना, ढोल की थाप पर ताली बजाना लुडडी नृत्य की विशेष पहचान है। लुडी को कंधे झुकाने वाला और ताली बजाने वाला नृत्य भी कहा गया है। इस लोक नृत्य को भंगड़ा लोक नृत्य के विपरीत धीमी गति वाला और नाजुक लोक नृत्य कहा जाता है। यह नृत्य मूक शब्दों में आपसी भाईचारा और परिपक्वता का संवाद रचता है। लुडडी नृत्य के चरमोत्कर्ष पर नर्तक उत्तेजित होकर ढोल की थाप पर पैरों के उठने और कन्धों के फेरबदल के साथ मुंह से 'शि-शी' की ध्वनि निकालते हैं। आजकल यह नृत्य कम प्रचलन में है क्योंकि भंगड़ा लोक नृत्य में झूमर और लुडडी के कई तत्व शामिल हैं।

डंकारा

डंकारा पुरुष प्रधान नृत्य है। इस लोक नृत्य में भाग लेने के लिए कम से कम दो लोगों की आवश्यकता पड़ती है हालांकि इसकी कोई अधिकतम सीमा नहीं है। यह नृत्य गोलाकार रूप में किया जाता है। नर्तक अपने हाथों में अलग-अलग रंग की छड़ी रखते हैं और लयबद्ध पेटर्न में छड़ी को पार करके और जोड़कर अपनी गतिविधियों में संतुलन बिठाते हैं। यह नृत्य आमतौर पर खुले आंगन में शादी के अवसर पर किया जाता है। इसे गतका नृत्य भी कह दिया जाता है। इस नृत्य से जुड़ी कोई विशिष्ट वेश-भूषा नहीं है।

मालबई गिद्दा

मालबई गिद्दा पंजाब के मालवा क्षेत्र अर्थात् बठिंडा, मुक्तसर, फरीदकोट, संगरूर, फिरोजपुर तथा पटियाला में अधिक प्रचलित है। यह नृत्य मूल रूप से बुजुर्गों द्वारा किया जाता है और इसलिए इसे बाबों का गिद्दा भी कहा जाता है। इसमें बोलियाँ (कविता) गाकर दूसरे लोगों को चिढ़ाना और उन पर व्यंग्य कसना भी शामिल है। मालबई गिद्दे में नर्तकों की संख्या निश्चित नहीं होती। लेकिन यह 10 से 15 तक हो सकती है। बोली गाने वालों की संख्या भी एक से अधिक होती है।

धमाल

यह नृत्य मुल्तान के फकीरों का लोक नृत्य है जो पंजाब के साथ-साथ पाकिस्तान के पश्चिमी भाग में बहुत प्रचलित है। जलाली नामक मुसलमान फकीरों का एक वर्ग इस नृत्य के कारण धमाली कहलाने लग पड़ा। इस नृत्य की कोई विशेष शैली नहीं है। इस नृत्य में बाहें ऊपर की ओर फैला कर नृत्य-कूद कर मन की खुशी प्रकट की जाती है। प्राचीन समय में सूफियों के डेरों में यह नृत्य किया जाता था लेकिन अब धीरे-धीरे यह प्रथा समाप्त होती जा रही है। झूमर नृत्य के एक ताल को भी धमाल खा जाता है। अंत में कहा जा सकता है कि पंजाब के लोक नृत्य इस क्षेत्र के सांस्कृतिक और सामाजिक ताने-बाने में बहुत महत्त्व रखते हैं। यह नृत्य पंजाब की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित और आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यह पंजाब के लोगों की परम्पराओं, मूल्यों, कहानियों और लोक विश्वासों को अभिव्यक्त करने के प्रभावशाली माध्यम के रूप में कार्य करते हैं। इन लोक नृत्यों नें वैश्विक पहचान हासिल की है, पर्यटकों को आकर्षित किया है और स्थानीय अर्थव्यवस्था को भी मजबूत किया है। यह नृत्य सांस्कृतिक परिदृश्य को समृद्ध करते हुए कलात्मक अभिव्यक्ति और प्रतिभा विकास के लिए भी मंच प्रदान करते हैं।

*****

हिंदी सिनेमा और भारतीय संस्कृति

डॉ. धर्मेन्द्र प्रताप सिंह
सहायक आचार्य, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

सिनेमा को समाज का दर्पण कहा जाता है। वहीं समाज और संस्कृति एक दूसरे के पूरक माने जाते हैं। ऐसे में सिनेमा के माध्यम से समाज एवं संस्कृति की अभिव्यक्ति रुपहले पर्दे पर बहुत प्रभावी रूप में रूपायित की जाती रही है। वस्तुतः सिनेमा और संस्कृति परस्पर गहरे स्तर पर जुड़े हुए हैं। सिनेमा मनोरंजन का एक माध्यम भर नहीं है, बल्कि वह समाज, संस्कृति और समय की स्थितियों को भी प्रतिबिंबित करता है। फिल्मों के माध्यम से हम विभिन्न संस्कृतियों, परंपराओं और सामाजिक मुद्दों के बारे में जानकारियां प्राप्त करते हैं। सिनेमा समाज की सोच, व्यवहार और मूल्यों को प्रभावित करते हुए उसका निर्माण भी करता है। भारत में सिनेमा, खासकर बॉलीवुड ने भारतीय संस्कृति को वैश्विक मंच पर पहुंचाया है। फिल्में न केवल भारतीय जीवन-शैली और पारिवारिक मूल्यों को दिखाती हैं, बल्कि वे भारतीय समाज की बदलती सोच, राजनीतिऔर सामाजिक समस्याओं को भी उजागर करती हैं। *'फिल्में संस्कृति के एक हिस्से के रूप में, अन्य कलाकृतियों की तुलना में कहीं अधिक लोगों के साथ जुड़ाव रखती हैं।'*[1] इस रूप में सिनेमा संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। लोग फिल्मी गानों को गुनगुनाते हैं, संवादों को दोहराते हैं और फिल्मी सितारों को रोल मॉडल के रूप में देखने लगते हैं। सिनेमा किसी भी देश और समाज की संस्कृति को अधिक जीवंत बनाता है, उसकी पहचान को और मजबूत करता है।

अपने जन्मकाल से ही सिनेमा संस्कृतियों को अनेक प्रकार से प्रभावित करता रहा है। वह समाज के विभिन्न पहलुओं को उजागर करने, विचारधारा का प्रसार करने और सामाजिक परिवर्तनों को प्रेरित करने का प्रभावी माध्यम है। दूसरे शब्दों में कहें तो सिनेमा संस्कृति को निरंतर आकार भी देता है। सिनेमा का प्रभाव बहुत गहरा और दूरगामी होता है, जिससे वह कई स्तरों पर संस्कृति के प्रसार में सहायक बनता है। यह संस्कृति का प्रचार करने और विभिन्न समुदायों के बीच आदान-प्रदान का एक शक्तिशाली ज़रिया है। यह एक मजबूत सांस्कृतिक संवेदनशीलता और एकता का माध्यम भी है। समाज की विभिन्न संस्कृतियों को दूसरों तक पहुंचाने एवं विभिन्न संस्कृतियों को आपस में जोड़ने का यह एक सशक्त और प्रभावी मंच है। इस रूप में यह विभिन्न समुदायों, देशों और भाषाओं के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान का सेतु बनता है। सिनेमा हमें न केवल अलग-अलग संस्कृतियों को समझने, बल्कि एक दूसरे के प्रति सम्मान और सहिष्णुता विकसित करने का अवसर भी देता है।

हिंदी सिनेमा में भारतीयता का बहुत गहरा और महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीयता, अपने सांस्कृतिक, पारंपरिक और सामाजिक मूल्यों के रूप में हिंदी सिनेमा में लंबे समय से परिलक्षित होती रही है। फिल्में हमेशा भारतीय समाज, परंपराओं, विश्वासों और आदर्शों को प्रस्तुत करने का माध्यम रही हैं। यह एक ऐसा माध्यम है जो हमें भारत के विभिन्न समाजों, उनके रीति-रिवाजों, परंपराओं, संघर्षों और जीवनशैलियों से रूबरू कराता है। सिनेमा वास्तव में

[1]शर्मा, धीरज; फिल्में और संस्कृति, फिल्में और समाज, पृष्ठ 26

एक सांस्कृतिक कर्म हैऔर इसका निर्माण केवल तकनीकी या आर्थिक दृष्टिकोण से ही नहीं किया जाता है, बल्कि यह समाज, संस्कृति और राजनीति के व्यापक संदर्भ में निरंतर विकसित होता हुआ एक दृश्य-श्रव्य माध्यम है। सिनेमा अपने प्रारंभ से हीएक प्रकार का सांस्कृतिक आंदोलन रहा है, क्योंकि यह सामाजिक और सांस्कृतिक बदलाव लाता है। इस रूप में पिछले लगभग सवा सौ सालों में हिंदी सिनेमा और भारतीय संस्कृति का गहरा संबंध निर्मित हुआ है। हिंदी सिनेमा, जो अधिकतर बॉलीवुड के नाम से जाना जाता है, भारतीय समाज, परंपराओं और जीवनशैली का एक अहम प्रतिबिंब है।

हिंदी सिनेमा ने भारतीय समाज में जातिवाद, लिंग भेद, भ्रष्टाचार और गरीबी जैसे अनेक गंभीर मुद्दों पर लोगों का ध्यान आकर्षित किया है। उदाहरण के तौर पर *पीकू, तारे ज़मीन पर* और *रंग दे बसंती* जैसी अनेक फिल्मों ने समाज की कुछ बुनियादी समस्याओं का अंकन करके इन मुद्दों पर गंभीर बहसें शुरू की हैं। *चक दे! इंडिया* और *लागा चुनरी में दाग* जैसी फिल्मों ने महिला सशक्तिकरण और समानता के विषयों पर लोगों का ध्यान केंद्रित किया। वस्तुतः किसी समाज, संस्कृति अथवा समुदाय विशेष के विभिन्न पहलुओं को दिखाते हुए सिनेमा हमारी समझ का विस्तार करता है। मसलन, *स्लमडॉग मिलियनेयर* (भारत), *पेरिस, आई लव यू* (फ्रांस) और ट्वेल्व ईयर *ए स्लेव* (अमेरिका) ने न केवल अपने देश के सामाजिक मुद्दों को उजागर किया है, बल्कि अन्य देशों के दर्शकों को भी इन समस्याओं के प्रति संवेदनशील बनाया है। जब समाज में किसी बड़े बदलाव की आवश्यकता होती है, तो सिनेमा उसे सबसे पहले महसूस करके दर्ज करता है और उसकी प्रतिक्रियाएं दर्शकों तक पहुंचाता है। भारतीय सिनेमा में नकली सामाजिक मान्यताओं या जातिवाद के खिलाफ विरोध दिखाया गया है। *मुल्क* और *स्लमडॉग मिलेनियर* ने समाज में व्याप्त भेदभाव, गरीबी और असमानता जैसे मुद्दों को सामने रखते हुए भारतीय समाज की समस्याओं, संघर्षों और असमानताओं को प्रमुखता से उकेरा है। जातिवाद, गरीबी और अशिक्षा के मुद्दों पर बनी अनेक फिल्मों ने भारतीय समाज की समस्याओं का अंकन करते हुए उसके हल की दिशा में भी मार्ग सुझाया है। सिनेमा न केवल वर्तमान संस्कृति को दर्शाता है, बल्कि यह सामाजिक बदलाव और संस्कृति के विकास का हिस्सा बनकर दर्शकों को अपनी सोच बदलने के लिए भी प्रेरित करता है। इस रूप में हिंदी सिनेमा सामाजिक बदलाव लाने काभी एक मंच है, जहां नए विचार, मान्यताएं और दृष्टिकोण प्रस्तुत किए जाते रहें हैं।

भारतीय संस्कृति और परंपरा को पर्दे पर प्रस्तुत करने में भारतीय सिनेमा सफल रहा है। बॉलीवुड की पारंपरिक फिल्में भारतीय नृत्य, संगीत, त्योहारों और पारिवारिक मूल्यों को प्रस्तुत करती हैं, जो हमारी संस्कृति का अहम हिस्सा है। सिनेमा विभिन्न संस्कृतियों और भाषाओं के बीच पुल का काम करते हुए उनके बीच आदान-प्रदान का माध्यम बनता है। अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोहों, जैसे *कांस फिल्म फेस्टिवल, ऑस्कर* और *टोरंटो इंटरनेशनल फिल्म फेस्टिवल* आदि के माध्यम से फिल्मों का आदान-प्रदान होता रहा है।

सिनेमा विभिन्न संस्कृतियों के बारे में जागरूकता बढ़ाने का एक बेहतरीन तरीका है। उदाहरणार्थ, *प्रोफेसरया द पैशन ऑफ द क्राइस्ट* जैसी फिल्में किसी संस्कृति, धर्म या परंपरा विशेष की गहरी समझ देती हैं। यह दर्शकों को न केवल उस संस्कृति के बारे में बताती हैं, बल्कि उन्हें उसकी सराहना करने की प्रेरणा भी देती हैं। किसी फिल्म की कहानी, चाहे वह प्रेम, संघर्ष या जीवन के किसी अन्य पहलू के बारे में हो, वह मानवता के सार्वभौमिक पहलुओं को दर्शाती है। जैसे *दंगल* और *कबीर सिंह* जैसी फिल्में भारतीय सामाजिक संदर्भों को दिखाती हैं, वहीं *द लंचबॉक्स* और *ए मिडसमर नाइट्स ड्रीम* जैसी फिल्में विभिन्न संस्कृति की पेचीदगियों को उजागर करती हैं।

सिनेमा किसी भी संस्कृति के मूल्यों, परंपराओं और विश्वासों को गहराई से दिखाता है। जैसे कि *द लंचबॉक्स* (भारत), *पसफिक गेटवे* (जापान) या *ब्लैक पैंथर* (अफ्रीका) ने अपनी-अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं, संघर्षों और आदर्शों को प्रस्तुत किया है। इन फिल्मों ने दर्शकों को उन संस्कृतियों के बारे में जानने और समझने का एक नया दृष्टिकोण दिया है। जैसे *स्माइलीज* (इंडोनेशिया) जैसी फिल्में हमें एक अलग संस्कृति में रहने वाले लोगों के दृष्टिकोण और उनके संघर्षों के बारे में बताती हैं। *ब्लैक पैंथर* (हॉलीवुड) ने अफ्रीकी संस्कृति को गर्व और सम्मान के साथ प्रदर्शित किया, जबकि *दीवार* और *लगान* जैसी फिल्में भारतीय संघर्षों-आदर्शों की विशेषता दर्शाती हैं। इन फिल्मों ने दर्शकों को अलग-अलग संस्कृतियों और उनके संघर्षों के प्रति संवेदनशील और जागरूक किया है।

सिनेमा ने संस्कृतियों और परंपराओं के संरक्षण और प्रसार का भी अहम कार्य किया है। उदाहरण के लिए, भारतीय सिनेमा ने भारतीय लोककला, नृत्य, संगीत और परंपराओं को पूरे विश्व में फैलाया है। जैसे *बाजीराव मस्तानी* और *पद्मावत* ने भारतीय इतिहास, संस्कृति और महाकाव्य को आधुनिक संदर्भ में प्रस्तुत किया, जिससे भारतीय संस्कृति का प्रचार हुआ और इसे अंतरराष्ट्रीय मंच पर पहचाना गया। हिंदी सिनेमा ने भारतीय समाज के अंतर्विरोधों को भी बड़े पर्दे पर दिखाया है। *वेक अप सिड* और *नमस्ते लंदन* में भारतीय प्रवासी और उनकी भारतीयता के संघर्ष को दिखाया है। इन फिल्मों ने यह बताया कि व्यक्ति चाहे कहीं भी जाए, उसकी जड़ें हमेशा भारतीय संस्कृति में बनी रहती हैं। भारत की सांस्कृतिक विविधता को हिंदी सिनेमा ने बहुत सुंदर तरीके से प्रस्तुत किया है। सिनेमा अलग-अलग संस्कृतियों और समाजों के बीच संवाद स्थापित करता है और विभिन्न समुदायों की वास्तविकता को समझने का एक नया दृष्टिकोण प्रदान करता है। बॉलीवुड ने भारतीय संस्कृति को पूरी दुनिया में पहचान दिलाई, जबकि हॉलीवुड ने पश्चिमी जीवनशैली और विचारधारा को वैश्विक स्तर पर फैलाया।

भारतीयता का एक और महत्त्वपूर्ण पहलू है संस्कार और नैतिकता, जो हिंदी सिनेमा में प्रमुखता से दिखाई पड़ता है। भारतीय संस्कृति में संस्कारों की अहमियत है। *मदर इंडिया, दीवार* और *मुकद्दर का सिकंदर* में यह नैतिक शिक्षा और आदर्शों की बात दिखाई गई है। इन फिल्मों ने दर्शकों को सही-गलत, न्याय-अन्याय और परिवार के प्रति अपनी जिम्मेदारी का अहसास कराया। बॉलीवुड, हॉलीवुड और विभिन्न क्षेत्रीय फिल्म उद्योग अपनी फिल्मों के माध्यम से अलग-अलग संस्कृतियों और जीवन-शैलियों को दर्शाते हैं, जिससे दर्शक अन्य संस्कृतियों को समझे और उनका सम्मान करे। भारतीय फिल्में विदेशों में भारतीय संस्कृति को दिखाती हैं, जबकि पश्चिमी फिल्मों ने पश्चिमी संस्कृति, लाइफस्टाइल और सोच को दुनिया भर में फैलाया है। वस्तुतः *'सिनेमा दो संस्कृतियों को जोड़ने का कार्य भी करता है। यह एक संस्कृति विशेष के बारे में धारणाओं को बनाता है और उन्हें बदलता है। इस रूप में सिनेमा एक देश की सॉफ्ट पावर है। फिल्में किसी देश के सांस्कृतिक मूल्यों से दूसरे देशों को परिचित कराती हैं और इस प्रकार देश की छवि को बनाने या सुधारने में भूमिका निभाती हैं।'*[2] सिनेमा अनेक देशों के लोगों के बीच एक दूसरे की संस्कृति, रीति-रिवाज और जीवन-शैली को उचित संदर्भों में जानने-समझने का एक महत्त्वपूर्ण ज़रिया बनता है।

भाषा किसी भी संस्कृति का अहम हिस्सा होती है। विभिन्न भाषाओं और संवादों के ज़रिए संस्कृति के अलग-अलग पहलुओं को हम सिनेमा में खोज सकते हैं। फिल्मों में उपयोग की जाने वाली भाषा और संवाद मूलतः संस्कृति के प्रसार का एक

---

[2] सिनेमा : समाज, संस्कृति एवं लोकजीवन, एमए हिंदी : व्यावसायिक लेखन, सिनेमा लेखन (इग्नू की अध्ययन सामग्री)

तरीका है। एक फिल्म के संवाद, गाने और शैली स्थानीय भाषा और संस्कृति के संकेत होते हैं, जो दर्शकों को उस संस्कृति के बारे में जागरूक करते हैं। भारतीय फिल्मों ने हिंदी, बंगाली, तमिल, तेलुगु और अन्य भाषाओं के माध्यम से भारतीय भाषाओं और उनके सांस्कृतिक संदर्भों का प्रसार किया है। उदाहरण के लिए भारतीय फिल्में जैसे *हिंदी मीडियम* और *तुम्हारी सुलु* ने न केवल भारतीय संस्कृति के भीतर के सामाजिक और भाषाई फर्कों को दिखाया है, बल्कि अंतरराष्ट्रीय दर्शकों को भी भारतीय समाज के विभिन्न पहलुओं से अवगत कराया है। फिल्मों में प्रयुक्त भाषा और संवाद हमारी बोलचाल की भाषा पर असर डालते हैं। कई बार फिल्मी संवाद और गाने हमारी आम बातचीत का हिस्सा बन जाते हैं, जो हमारी सांस्कृतिक पहचान को और मजबूत करते हैं। सिनेमा भाषाई बाधाओं को पार करने का एक अद्भुत तरीका है। एक फिल्म चाहे किसी भी भाषा में हो, उसकी कहानी और संदेश सार्वभौमिक हो सकते हैं। *बाजीराव मस्तानी* और *दिलवाले दुल्हनिया ले जाएंगे* ने फिल्मों न केवल भारतीय बल्कि अंतरराष्ट्रीय दर्शकों को भी आकर्षित किया क्योंकि फिल्में अब वैश्विक स्तर पर सबटाइटल्स और डबिंग के माध्यम से दर्शकों तक पहुंच रहीं हैं।

भारतीय संस्कृति में धर्म और आध्यात्मिकता का गहरा असर है। हिंदी सिनेमा ने इन पहलुओं को उजागर करते हुए अपने दृश्यों में पर्याप्त स्थान दिया है। *राम तेरी गंगा मैली*, *मां* और *विनाशक* जैसी फिल्मों ने धार्मिक मुद्दों और आदर्शों को केंद्र में रखा है। साथ ही, भारतीय संस्कृति में त्यौहारों और अनुष्ठानों की अहमियत को भी फिल्में दिखाने में पीछे नहीं रहीं हैं। *सत्यम शिवम सुंदरम* में भारतीय धर्म, कर्म और विश्वास के पहलुओं को दिखाया गया है। बॉलीवुड फिल्मों के कई गाने भी भारतीय धार्मिकता, भक्ति और ध्यान को प्रेरित करते हैं। अनेक फिल्मों में भारतीयता के आध्यात्मिक पहलू को भी प्रमुखता से चित्रित किया गया है।

सिनेमा पारंपरिक संस्कृति और आधुनिकता के बीच संतुलन बनाए रखने का भी एक प्रभावी कला रूप है। जैसे *तारे ज़मीन पर* या *कभी खुशी कभी ग़म* ने पारंपरिक भारतीय मूल्यों को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया, जिससे यह संदेश दिया कि हम अपनी जड़ों से जुड़े रहते हुए भी बदलाव को स्वीकार कर सकते हैं। सिनेमा शारीरिक और मानसिक सीमाओं को पार करते हुए हमें एक दूसरे के अनुभवों और संवेदनाओं को भी समझने का अवसर देता है। यह न केवल एक जगह की भौतिकता को दर्शाता है, बल्कि उसकी सांस्कृतिक और भावनात्मक दुनिया को भी दिखाता है। *शोले* या *गांधी* जैसी फिल्में हमें भारतीय और पश्चिमी दुनिया के बीच की खाई को समझने का एक बेहतरीन मंच प्रदान करती हैं।

सिनेमा किसी संस्कृति में उत्पन्न हो रहे विरोध और संघर्ष के तत्त्व को भी अपने में शामिल करता है। *नवीन फिल्म आंदोलन* 1960 के आसपास के समय में फ्रांस और भारत में उभरा, जहां सिनेमा ने मुख्यधारा की फिल्मों के खिलाफ एक वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। भारतीय सिनेमा में *आंदोलन* और *शतरंज के खिलाड़ी* ने ब्रिटिश शासन के खिलाफ सांस्कृतिक विद्रोह का पक्ष लिया। सिनेमा राजनीतिक आंदोलनों और विचारधाराओं का भी प्रतिबिंब होता है। यह फिल्में अक्सर सरकारों, व्यवस्थाओं और समाज के अन्य पहलुओं पर सवाल उठाती हैं। *द गॉडफादर* और *गांधी* ने राजनीति, सत्ता और व्यक्तिगत संघर्षों के बीच के रिश्ते को रेखांकित किया। सिनेमा राजनीतिक चेतना पैदा करते हुए सामाजिक कुरीतियों को चुनौती देता हैऔर लोगों को अपने अधिकारों के प्रति भी जागरूक करता है।

अनेक फिल्म चिंतकों एवं संस्कृतिकर्मियों का आरोप है कि उदारीकरण के बाद के बदले हुए दौर में सिनेमा ने भारतीय संस्कृति के विद्रूपीकरण का काम बहुत तेजी से किया। *'वर्तमान में बनने वाली फिल्मों में से कुछेक को छोड़ दिया जाए तो सारी*

फिल्में हमारी संस्कृति और सभ्यता की खिलाफत करती नजर आती हैं। कभी भारतीय संस्कृति और मूल्यों की पैरोकार रही फिल्में वर्तमान समय में समाज के सामने हिंसात्मक, अश्लील और भड़काऊ चीजें परोसने लगीं हैं। फिल्मों के साथ ही युवाओं के आचार-विचार, रहन-सहन में व्यापक परिवर्तन आया है। इसके लिए कहीं न कहीं हमारा सिनेमा ही जिम्मेदार है, जिसने पश्चिमीकरण को ही अपना सब कुछ मान लिया है।... यह ऐसा दौर है कि भारतीय सिनेमा में भारत खोजना कठिन हो गया है। दशकों पुरानी मान्यता ध्वस्त हो चुकी है कि नैतिक रूप से ठीक फिल्में ही समाज में चलती हैं।[3] उत्तर-आधुनिक दौर के सिनेमा में हुए बदलाओं के इस संदर्भ में राही मासूम रज़ा का यह कहना बहुत सटीक है कि *'भारतीय संस्कृति और हिंदी फिल्में एक नदी के किनारे हैं जो मिलने से मजबूर हैं। संस्कृति तो हमें दिखाए दे, जब फिल्मों में कोई कहानी होती हो। हमारी फिल्मी कहानियां स्मगल की जाती हैं। अब मिसाल के तौर पर यदि कहानी हार्डी की है तो उसमें भारतीय संस्कृति कैसे मिल सकती है? संगीत यदि यूरोप या अफ्रीका या अरब का होगा तो उसमें भारतीय संस्कृति कहां समाएगी?*[4] स्पष्ट है कि जब तक हिंदी सिनेमा में सामाजिक सरोकार शामिल थे, तब तक फिल्मों में समृद्ध भारतीय परंपरा एवं संस्कृति के दृश्य बहुतायत रहे। लेकिन आर्थिक उदारीकरण के पश्चात फिल्मों का विषय और तद्नुरूप कहानियां बदलने से फिल्मों में हिंसा और अश्लीलता बढ़ती गई और संस्कृति के कलात्मक-सृजनात्मक पक्षों का स्थान कमतर होता गया।

समग्रतः हिंदी सिनेमा में भारतीयता केवल एक बाहरी रूप में नहीं, बल्कि यह समाज, संस्कृति और विचारधारा का एक अहम हिस्सा है। सिनेमा के माध्यम से भारतीयता के मूल्य, परंपराएं और आदर्श समाज के हर कोने में पहुंचे हैं और आज यह भारतीय जीवनशैली का अभिन्न हिस्सा बन चुका है। हिंदी सिनेमा ने समय-समय पर भारतीयता को एक वैश्विक पहचान दी है और यह भारतीय समाज और उसकी संस्कृति की निरंतरता का प्रतीक बना रहेगा। यह एक ऐसी दुनिया का निर्माण करता है,जहां संस्कृति की सीमाएं नहीं होतीं हैंऔर जहां लोग एक दूसरे के अनुभवों और विचारों को साझा करते हैं। सिनेमा हमें एक साझा मानवीय अनुभव से जोड़ता है। यह न केवल विभिन्न संस्कृतियों को समझने का ज़रिया बनता है, बल्कि यह हमें उनकी सराहना करने और उनके दृष्टिकोण को अपनाने की प्रेरणा भी देता है। कला रूप होने के साथ-साथ सिनेमा एक प्रकार का सांस्कृतिक और सामाजिक आंदोलन भी है, जो केवल फिल्म निर्माण तक सीमित नहीं है, बल्कि यह समाज, संस्कृति, राजनीति और समाज के अन्य पहलुओं के बीच निरंतर संवाद और बदलाव को बढ़ावा भी देता है। फिल्म निर्माण और उसका विकास समाज की ज़रूरतों, समस्याओं और विचारधाराओं का हिस्सा बनकर अपनी पहचान बनाता है। यह निरंतर बदलते समय के साथ विकसित होता रहता है और समाज में बदलाव लाने की दिशा में सक्रिय रूप से कार्य करता है।

[3] पांडेय एवं सिंह, अनिल कुमार, डॉ. श्रीकांत; आधुनिक सिनेमा का युवा वर्ग पर प्रभाव, मीडिया मीमांसा, अप्रैल-जून 2013 – अक्टूबर-दिसंबर 2015, पृष्ठ 24

[4] रज़ा, राही मासूम; सिनेमा और संस्कृति, किसे वकील करें, किस्से मुंसिफी चाहें, पृष्ठ 29

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. कला और संस्कृति – वासुदेवशरण अग्रवाल, लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2022
2. भारतीय सांस्कृतिक मूल्य – डॉ. बजरंगलाल गुप्ता, प्रभात प्रकाशन, संस्करण 2018
3. फिल्में और संस्कृति– धीरज शर्मा, प्रभात प्रकाशन, संस्करण 2021
4. सिनेमा और संस्कृति – राही मासूम रज़ा, वाणी प्रकाशन, संस्करण आवृत्ति 2018
5. सिनेमा : समाज, संस्कृति एवं लोकजीवन, एमए हिंदी : व्यावसायिक लेखन, सिनेमा लेखन, इग्नू की अध्ययन सामग्री। मीडिया मीमांसा, अप्रैल-जून 2013 – अक्टूबर-दिसंबर 2015

*****

सांस्कृतिक रस-गंध का त्योहार

उमेश चतुर्वेदी
वरिष्ठ पत्रकार
आकाशवाणी

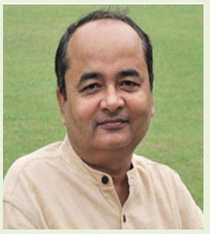

कठुआए काठ में अंकुर फूट पड़ा है.. ललछौंही फुनगियों से टहनियां भर उठी हैं..आमों के पोर पर मंजर उमड़ आए हैं..मंजरियों से मादक रस टपकने लगा है..भौंरे उस पर मंडराने लगे हैं...देह की पोर-पोर टूट रही है..अजीब-सा लास्य पूरे माहौल पर तारी होने लगा है..यह मुनादी है वसंत आ गया है....

ऐसे में रीतिकालीन रचनाकार पद्माकर की पंक्तियां की अनायास ही याद आ जाती है,

कूलन में केलिन कछारन में कुंजन में,

क्यारिन में कलिन-कलीन किलकंत है।

कहै पद्माकर परागन में पौन हू में,

पानन में पिकन पलासन पगंत है॥

द्वार में दिसान में दुनी में देस-देसन में,

देखो दीप-दीपन में दीपत दिगंत है।

बीथिन में ब्रज में नबेलिन में बेलिन में,

बनन में बागन में बगरो बसंत है॥

पद्माकर कहते हैं, यमुना के किनारे, पशु हों या पक्षी या कोई अन्य प्राणी..उनकी एकांत-क्रीड़ाओं में, कछारों में, वनों में,उपवनों में, कुंजों में, फूलों की क्यारियों में, सुंदर कलियों में वसंत किलकारी भर रहा है। वसंत का ही प्रभाव है कि फूलों के पराग में, सरसराती बह रही हवाओं में, पत्तों में, कोयल के सुर में और दिशाओं में या यूं कहें कि समूचे संसार में, देश-देश में, द्वीप-द्वीप में वसंत ऋतु की मनोरम प्राकृतिक छटा आलोकित हो रही है। ब्रज की गलियों में, सारे ब्रज में, नवोढ़ायों या नववधुओं में, लताओं में, वनों और बागों में हर तरफ ऋतुराज वसंत फैला हुआ है। पद्माकर शब्दों का यह वितान रचते हैं...इसके जरिए वे बताने की कोशिश कर रहे हैं कि वसंत के आगमन से किस कदर प्रकृति और जड़-चेतन शोभायमान हो चुके हैं।

ऐसे वसंत में मन का बौराना स्वाभाविक है...इसी वसंत का चरमोत्कर्ष है फगुआ..फगुआ यानी होली..होलिका दहन से इस त्योहार की शुरूआत होती है...और इस होलिका की बुनियाद रखी जाती है वसंत पंचमी के दिन...वसंत पंचमी के दिन किसी खुली जगह, किसी खाली पड़े खेत में बस्ती से कुछ दूर होलिका की बुनियाद रख दी जाती है..कुछ खर-पतवार, कुछ लकड़ी, कुछ उपलों के साथ..एक बार होलिका की बुनियाद रख दी गई तो गांव वालों का कर्तव्य हो जाता है कि आते-जाते उसमें लकड़ी, उपला, खर-पतवार रखते जाएं..इस होलिका दहन की कहानी जन-जन में प्रसिद्ध है...हिरण्यकश्य की बहन होलिका अपने भतीजे प्रह्लाद को लेकर होलिका में बैठ जाती है..इस वजह से कि प्रह्लाद अपने ही पिता हिरण्यकश्यप को ईश्वर मानने से इनकार कर चुका है...उसे दंडित करना है और उसे जला देना है..होलिका को वरदान है कि वह एक खास वस्त्र पहन कर बैठेगी तो आग उसे जला नहीं सकती..लेकिन ईश्वर का विधान...प्रह्लाद को गोद में लेकर वह आग में बैठती है..लेकिन एक हवा का झोंका आता है..और होलिका का वह दिव्य वस्त्र उड़

जाता है..होलिका जल जाती है और प्रह्लाद बच जाते हैं..

उत्तरी भारत में होलिका दहन को संबत जलाना भी कहा जाता है..भारतीय कैलेंडर में वर्ष को संवत्सर कहा जाता है..संवत् उसी का संक्षिप्त रूप है..होलिका भारतीय फाल्गुन मास की आखिरी तिथि यानी पूर्णिमा को जलाया जाता है..इसके अगले ही दिन साल बदल जाता है..उसकी संख्या बदल जाती है..यानी होलिका के दिन साल बीत जाता है...और नए साल की आहट शुरू हो जाती है..सोने की थाल की तरह चमकता फाल्गुन मास के पूनम का चांद संवत्सर का आखिरी चांद होता है..शायद इसीलिए उत्तर भारत में होलिका दहन को संवत् जलाना भी कहते हैं.. इसी वजह से इस पर्व को नव संवत्सर का आगमन और वसंतागम के उपलक्ष्य में किया हुआ यज्ञ भी कहा जाता है।

कठिन सर्दी की दो ऋतुएं हैं, शिशिर और हेमंत...हेमंत के बाद वसंत आता है...कड़कड़ाती सर्दियों के बाद वसंत का आना प्रकृति के सुखद बदलावों का प्रतीक है..इसीलिए वसंत को ऋतुराज कहा जाता है...इसी ऋतुराज के बीच फगुआ या होली का त्योहार आता है..वैदिक युग में इसे 'नवान्नेष्टि' कहा जाता था..होली ही क्यों, भारत के सभी त्योहार शस्य यानी कृषि संस्कृति के प्रतीक हैं...नवान्नेष्टि का मतलब है नए और परिपक्व अन्न का एष्टि यानी यज्ञ..होलिका में नवान्न को भूना जाता है... इस दिन खेत के अधपके अन्न का हवन करके उनका प्रसाद बांटने की परंपरा रही है..इसी भूने अन्न को होला कहा जाता है, इसी वजह से इसे होलिका कहा जाता है...कालांतर में होला, होरा बना और होरा से होरी बनी...भोजपुरी इलाकों में भुने हुए अन्न को होरहा कहा जाता है...भाषाविद् होरहा शब्द को होला का ही देसज रूप मानते हैं.. इसी वजह से वैदिक काल में इस पर्व को अग्निदेव का पूजन से भी जोड़ा जाता रहा है...मान्यता है कि इसी दिन मनु का जन्म भी हुआ था.. इसी कारण इसे मन्वादि तिथि भी कहा जाता है। कुछ पुराणों के अनुसार भगवान शंकर ने इसी दिन अपनी क्रोधाग्नि से कामदेव को भस्म किया था, तभी से यह त्योहार मनाने का प्रचलन हुआ। मनोविज्ञान कहता है कि लास्य के भाव को हास्य से दूर किया जा सकता है..अन्यथा मन में विकार उठ सकते हैं..मानसिक स्वास्थ्य पर भी इससे असर पड़ सकता है...इसीलिए होलिका दहन के अगले दिन वसंत के लास्य को दूर करने के लिए फाग खेलने का विधान रचा गया...

महाभारत के शांति पर्व में एक वृतांत है..इसके मुताबिक महाराज युधिष्ठिर वसंत ऋतु में एक दिन के लिए सबको खूब खुलकर बोलने और खेलने की अनुमति देते थे..ताकि लोग अपने मन का गुबार निकाल सकें..और आगामी पूरे साल के लिए खुद को मानसिक रूप से स्वस्थ रहते हुए जीवन-यापन करने योग्य बना सकें..संस्कृति और परंपरा के जानकारों के अनुसार यही त्योहार बाद में होली के नाम से जाना गया...भविष्य पुराण में भी होली को लेकर एक प्रसंग आता है..इसमें होली खेलने को लेकर सुझाव दिया गया है...इस प्रसंग के अनुसार, सुबह मलेच्छों की तरह धूल, कीचड़, गोबर, मिट्टी आदि से होली खेलना चाहिए..इसके बाद दोपहर को थोड़ा शालीन तरीके से रंगों से होली खेलना चाहिए...बाद में नहा-धोकर साफ-नए कपड़े पहनकर लोगों को सभा-संगत में जाना चाहिए...होली का वर्णन नारद पुराण में भी मिलता है... श्रीमद्भागवत महापुराण में रास का वर्णन है..यह रास भी एक तरह से वसंत का ही त्योहार है..हजारी प्रसाद द्विवेदी के मशहूर निबंध 'अशोक के फूल' में भी वसंतोत्सव का संदर्भ है.. भगवान कृष्ण की लीलाओं में भी होली का वर्णन है। कई अन्य रचनाओं में 'रंगोत्सव' का जिक्र मिलता है। हर्ष की प्रियदर्शिका व रत्नावली के साथ ही कालिदास के कुमारसंभवम् तथा मालविकाग्निमित्रम् में भी रंगोत्सव का वर्णन है। कालिदास के ही ऋतुसंहार में पूरा का पूरा एक सर्ग ही है, जो 'वसन्तोत्सव' को समर्पित है..संस्कृत के महान

रचनाकार भारवि हों या माघ, उनकी रचनाओं में वसंत की खूब चर्चा है।जैमिनी रचित पूर्व मीमांसा और गार्ह्य सूत्र में भी इस त्योहार का वर्णन मिलता है..महमूद गजनवी के साथ 1017 से 1020 के बीच भारत आए फारसी विद्वान अलबरूनी के वर्णनों में भी होलिकोत्सव का जिक्र मिलता है.. पृथ्वीराज रासो में भी चंद बरदाई ने होली का वर्णन किया है।

ब्रज की होरी बहुत मशहूर है..सूरदास ब्रज के ही नहीं, हमारी हिंदी के महत्वपूर्ण कवि हैं..सूर सारावली उनकी ऐसी रचना है, जिसमें सारे पद होली पर ही केंद्रित हैं...उनकी एक रचना है,

ब्रज में हरि होरी मचाई।
इततें आई सुघर राधिका, उततें कुंवर कन्हाई।
खेलत फाग परसपर हिलमिल, शोभा बरनि न जाई॥
नंद घर बजत बधाई ॥
बाजत ताल मृदंग, बाँसुरी, वीणा, ढफ, शहनाई।
उडत अबीर गुलाल कुंकुमा, रह्यो सकल ब्रज छाई॥
मानो मघवा झर लाई॥
लेले रंग कनक पिचकाई सनमुख सबे चलाई।
छिरकत रंग अंग सब भीजे झुक झुक चाचर गाई॥
परस्पर लोग लुगाई॥
राधा ने सेन दई सखियन कों, झुंड झुंड घिर आईं।
लपट झपट गई श्यामसुंदर सों बरबस पकर ले आईं॥
लाल जू को नाच नचाई॥
छीन लए मुरली पीतांबर सिरतें चुनर उढ़ाई।
बेंदी भाल नयन बिच काजर नकबेसर पहराई॥
मानो नई नार बनाई॥
मुस्कत है मुख मोड़ मोड़ कर कहाँ गई चतुराई।
कहाँ गये तेरे तात नंद जी कहाँ जसोदा माई॥
तुम्हं अब लें ना छुड़ाई॥
फगुवा दिये बिन जान न पावो कोटिक करो उपाई।
लेहौं काढ़ कसर सब दिन की तुम चित-चोर सबाई॥
बहुत दधि माखन खाई॥
रास विलास करत वृंदावन जहाँ-तहाँ यदुराई।
राधा श्याम की जुगल जोरि पर सूरदास बलि जाई॥
प्रीत उर रहि न समाई॥

लोक में राम भी होली खेलते हैं...अवध में होरी खेलैं रघुवीरा..लोक के राम के उसी रूप की अभिव्यक्ति है...लेकिन मोटे तौर पर लास्य और रास के देवता कृष्ण ही दिखते हैं..चाहे सूर के कान्हा हों या मीरा के, होली वे ही खेलते दिखते हैं...मीरा भी अपनी रचनाओं में कान्हा संग होरी खेलती हैं...

फागुन के दिन चार होली खेल मना रे॥
बिन करताल पखावज बाजै अणहदकी झणकार रे।
बिन सुर राग छतीसूं गावै रोम रोम रणकार रे॥
सील संतोख की केसर घोली प्रेम प्रीत पिचकार रे।
उड़त गुलाल लाल भयो अंबर, बरसत रंग अपार रे॥
घटके सब पट खोल दिये हैं लोकलाज सब डार रे।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरणकंवल बलिहार रे॥

लेकिन सबसे ज्यादा बांके और रससिक्त कान्हा पद्माकर के दिखते हैं..पद्माकर के कृष्ण कभी गोपियों को परेशान करते हैं तो कभी उन्हें ही गोपियां परेशान करती हैं...उनकी यह रचना भी बहुत प्रसिद्ध है..जिसमें गोपिकाएं कान्हां को होली के दिन चुहल के साथ परेशान करती हैं,

फाग के भीर अभीरन तें गहि गोविंद लै गई भीतर गोरी!
भाय करी मन की पद्माकर ऊपर नाय अबीर की झोरी!
छीन पितंबर कम्मर तैं सुबिदा दई मींड कपोलनि रोरी!
नैन नचाय कह्यो मुस्काय लला फिर आइयो खेलन होरी!

वासंती मादक बयार के बीच आने वाले होली के त्योहार की शुरूआत भले ही शस्य संस्कृति के प्रतीक रूप में हुई हो, लेकिन देखते ही देखते यह त्योहार लास्य के साथ हास्य का भी प्रतीक बन गया... लास्य के विकार को हास्य ही दूर कर सकता है.. लेकिन क्षुद्र हास्य नहीं, उदार हास्य..जिसका कोई अन्यार्थ न हो.. कोई विकार ना हो...

*****

कठपुतली: धागों में बंधी संस्कृति और मनोरंजन की कला

रिंकल शर्मा
101, प्रथम तल,
सी – 18 कौशाम्बी

भारतीय संस्कृति का प्रतिबिंब लोककलाओं में झलकता है। इन्हीं लोककलाओं में 'कठपुतली' कला भी शामिल है। कठपुतली का शाब्दिक अर्थ है- 'कठ' यानी लकड़ी और 'पुतली' यानी गुड़िया अर्थात लकड़ी से बनी गुड़िया। कठपुतली कला भारतीय लोक कला का एक महत्वपूर्ण हिस्सा रही है, जो न केवल मनोरंजन का एक साधन है, बल्कि सामाजिक घटनाक्रमों, धार्मिक कथाओं और सांस्कृतिक संदेशों को जनमानस तक पहुँचाने का प्रभावशाली माध्यम भी रही है। यह कला सदियों से भारतीय संस्कृति का हिस्सा रही है और इसके विभिन्न रूप पूरे देश में प्रचलित रहे हैं। कठपुतली अत्यंत प्राचीन नाटकीय खेल है, जिसमें लकड़ी, धागे, प्लास्टिक या प्लास्टर ऑफ पेरिस की गुड़ियों द्वारा जीवन के प्रसंगों की अभिव्यक्ति तथा मंचन किया जाता है। कठपुतलियों को धागों, लोहे या लकड़ी से बनी छड़ी से नचाने वाला एक सूत्रधार होता है, जो हस्तकौशल प्रदर्शन के साथ-साथ गीत गाता है और संवाद भी बोलता है। समय के साथ इस कला में कई बदलाव आए हैं, लेकिन आज यह कला संकट में है और इसके अस्तित्व को लेकर चिंताएँ बढ़ी हुई हैं। आधुनिकता के दौर में इसे लुप्त होने के कगार पर देखा जा रहा है।

कठपुतली कला का इतिहास अत्यंत पुराना माना जाता है। भारत में इस कला की उत्पत्ति का कोई निश्चित समय नहीं है, लेकिन इतिहास के जानकारों के अनुसार यह माना जाता है कि यह कला प्राचीन काल यानी करीब तीन हज़ार सालों से चली आ रही है। हड़प्पा कालीन खुदाई में भी मिट्टी की गुड़ियाँ मिली थीं, जिनसे यह अनुमान लगाया गया कि यह कला भारतीय संस्कृति में गहरे से रची-बसी है। कठपुतली कला का पहला संदर्भ हमें संस्कृत साहित्य और भारतीय धार्मिक ग्रंथों में मिलता है। महाभारत और रामायण जैसी धार्मिक कहानियों में कठपुतली के माध्यम से संवाद और नृत्य के प्रदर्शन का उल्लेख मिलता है। उदाहरण के लिए, महाभारत में जब कृष्ण ने गीता का उपदेश दिया था, तो इसे कठपुतलियों के माध्यम से गाँवों में प्रदर्शित किया जाता था। इसके बाद यह कला धीरे-धीरे पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में फैल गई और विभिन्न क्षेत्रों में इसके विभिन्न रूपों का विकास हुआ।

भारत में कठपुतली कला का प्रथम संदर्भ हमें दक्षिण भारत से मिलता है, विशेष रूप से तमिलनाडु, कर्नाटक और आंध्र प्रदेश से। यह कला वहाँ के धार्मिक और सांस्कृतिक पर्वों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थी। धीरे-धीरे यह कला राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार, पंजाब और ओडिशा तक फैली। भारत में कठपुतली कला का हर एक रूप अपनी विशेषताओं और शैलियों से अद्वितीय है। जैसे: राजस्थान की कठपुतली कला भारतीय कठपुतली शैलियों में प्रमुख है। यहाँ के कलाकार पारंपरिक उज्ज्वल राजस्थानी रंगीन कपड़े और कढ़ाई से पुतलियों को सजाते हैं और इन पुतलियों के माध्यम से रामायण, महाभारत और अन्य धार्मिक कथाओं का मंचन करते हैं। इनका प्रदर्शन नाटकीय लोक संगीत के साथ होता है। जोधपुर, उदयपुर और बीकानेर जैसे शहरों में इस कला का विशेष प्रचलन था। वैसे ही कर्नाटक की यक्षगान कठपुतली कला एक महत्वपूर्ण परंपरा है, जो नृत्य, संगीत और अभिनय का अद्भुत

मिश्रण प्रस्तुत करती है। यक्षगान के माध्यम से धार्मिक कथाओं और महाकाव्यों को कठपुतलियों के माध्यम से जीवंत रूप में दर्शाया जाता है। यह कला खासतौर पर कर्नाटक और पश्चिमी भारत के कुछ हिस्सों में प्रचलित है।

ओडिशा की सूत्र कठपुतलियों को कंढेई के रूप में जाना जाता है। इन्हें हल्की लकड़ी से बनाया जाता है और लंबी स्कर्ट पहनाई जाती है। इन कठपुतलियों में अपेक्षाकृत अधिक जोड़ होते हैं। इस प्रकार कठपुतली कलाकार को अधिक लचीलापन मिलता है। धागे त्रिकोणीय आधार से जुड़े होते हैं। कंढेई कठपुतली प्रदर्शन पर ओडिसी नृत्य का उल्लेखनीय प्रभाव है। ओडिशा की कठपुतली कला का मुख्य उद्देश्य भगवान जगन्नाथ की कथाओं और अन्य धार्मिक प्रसंगों को कठपुतलियों के माध्यम से प्रस्तुत करना है। ओडिशा के पारंपरिक त्यौहारों और मेलों में इस कला का महत्वपूर्ण स्थान है। इस कला में बड़ी और छोटी कठपुतलियों का उपयोग किया जाता है, जो दर्शकों को धार्मिक और सांस्कृतिक संदेश देती हैं। इसी तरह पंजाब में कठपुतली कला का इस्तेमाल खासकर लोककथाओं और सिख इतिहास को दर्शाने के लिए किया जाता था। यह कला ग्रामीण इलाकों में विशेष रूप से लोकप्रिय थी और धार्मिक आयोजनों और त्योहारों के दौरान इसके प्रदर्शन होते थे। पंजाबी कठपुतलियाँ आमतौर पर छोटी और सरल होती थीं, जो गाने और नृत्य के माध्यम से कहानी को दर्शाती थीं।

कठपुतली कला सिर्फ भारत में ही नहीं, बल्कि दुनियाभर में प्रचलित रही है। यूरोप में इस कला का अस्तित्व 16वीं शताब्दी से ही था। इटली में कठपुतली का इस्तेमाल न केवल मनोरंजन के लिए, बल्कि शिक्षा और सामाजिक मुद्दों पर प्रकाश डालने के लिए भी किया जाता था। जापान में भी कठपुतली कला का एक लोकप्रिय रूप है, जिसे 'बुनाकी' कहा जाता है। बुनाकी कठपुतलियों का आकार बहुत बड़ा होता है और इनका संचालन तीन कलाकारों द्वारा किया जाता है, जिनमें से एक मुख्य नियंत्रक होता है। चीन में भी कठपुतली कला का बहुत पुराना इतिहास है, जहाँ इसे मुख्य रूप से प्रदर्शन कला के रूप में किया जाता था। यहाँ कठपुतली का उपयोग धार्मिक और सांस्कृतिक कथाओं को मंचित करने के लिए किया जाता था। इस प्रकार, कठपुतली कला केवल भारतीय उपमहाद्वीप में ही नहीं, बल्कि दुनिया भर में एक महत्वपूर्ण कला रूप के रूप में विकसित हुई है। इतना ही नहीं, ईरान के कठपुतली कलाकार जवाद ज़ुल्फ़गारी के संघर्ष से यूनियन इंटरनेशनल डे ला मेरियोनेट (यूएनआईएमए) द्वारा वर्ष 2003 में पारित प्रस्ताव के बाद से प्रत्येक वर्ष 21 मार्च को 'विश्व कठपुतली दिवस' मनाया जाता है।

कठपुतली कला का इतिहास भले ही बहुत उज्ज्वल रहा हो, लेकिन वर्तमान में यह कला लुप्त होने के कगार पर है। दरअसल आधुनिकता और नई तकनीकों का प्रभाव इस कला पर पड़ा है। आजकल फिल्में, टेलीविजन और इंटरनेट जैसे नए मनोरंजन के साधन बच्चों और युवा पीढ़ी का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं, जिससे पारंपरिक कला रूपों का महत्व घटता जा रहा है। कठपुतली कला का प्रदर्शन अब बड़े शहरों में कम हो गया है और इसका स्थान नए प्रकार के डिजिटल मनोरंजन ने ले लिया है। इसके अलावा, कठपुतली कला में प्रशिक्षित कारीगरों की कमी भी एक बड़ा कारण है। पहले यह कला पीढ़ी दर पीढ़ी

कठपुतली कला सिर्फ भारत में ही नहीं, बल्कि दुनियाभर में प्रचलित रही है। यूरोप में इस कला का अस्तित्व 16वीं शताब्दी से ही था। इटली में कठपुतली का इस्तेमाल न केवल मनोरंजन के लिए, बल्कि शिक्षा और सामाजिक मुद्दों पर प्रकाश डालने के लिए भी किया जाता था।

परिवारों में सिखाई जाती थी, लेकिन अब यह परंपरा टूट चुकी है। आर्थिक संकट और संसाधनों की कमी के कारण कलाकारों को इस कला के पेशेवर रूप में प्रदर्शन करने में मुश्किलें आ रही हैं। कहा जा सकता है कि समाज में बदलती रुचियाँ और दृष्टिकोण भी इस कला के लुप्त होने के कारण हैं।

सकता है। सरकार को कठपुतली कला को संरक्षित करने के लिए विशेष योजनाएँ बनानी चाहिएं। इन योजनाओं में कलाकारों के लिए वित्तीय सहायता, प्रदर्शन के लिए उपयुक्त स्थानों का निर्माण और पारंपरिक कला आयोजनों को प्रोत्साहित करना शामिल हो सकता है।

इतिहासकारों और कला विशेषज्ञों की मानें तो कठपुतली कला को पुनर्जीवित करने के लिए अब भी कई ठोस कदम उठाए जा सकते हैं। सबसे पहले, इसे शिक्षा और प्रशिक्षण के माध्यम से बढ़ावा देना आवश्यक है। स्कूलों, कॉलेजों और सांस्कृतिक संस्थानों में इस कला को शिक्षा के रूप में पेश किया जा सकता है, ताकि युवा पीढ़ी इस कला से परिचित हो सके। इसके अलावा, कार्यशालाएँ और प्रदर्शन आयोजित करके इस कला को जनप्रिय बनाया जा

अंततः कहा जा सकता है कि कठपुतली कला भारतीय लोक कला का एक अमूल्य हिस्सा है जिसे हम बचाकर रख सकते हैं। अगर इसे संरक्षित करने और इसके महत्व को समझने के लिए ठोस प्रयास किए जाएँ, तो इसे पुनः जीवित किया जा सकता है। बचपन की यादों से जुड़ी यह कला आज भी अपनी समृद्ध परंपरा को बनाए रखते हुए आगे बढ़ सकती है और आने वाली पीढ़ियों के लिए एक अमूल्य धरोहर बन सकती है।

*****

नज़ाकत और नफ़ासत की विरासत: कश्मीरी पेपर माशे

डॉ दर्शिनी प्रिया
वरिष्ठ अनुवाद अधिकारी
निदेशालय आकाशवाणी, नई दिल्ली

खूबसूरत रंगों का संयोजन, नयनाभिराम नक्काशी और मनमोहक कलाकृतियां। ऐसे में भला नज़र क्यों न ठहरे।

किसी ज़माने में ईरान की शानो- शौकत में शुमार पेपर मैशे चुपके से कब कश्मीरी कला संस्कृति का हिस्सा बन गई इसका ठीक-ठाक अनुमान लगाना कठिन है।

वैसे अतीत की गांठ खोलने पर 18वीं सदी में इसके घाटी में कदम रखने की पुष्टि होती है। शानो-शौकत और ऐश्वर्य की विरासत समेटे यह कला जब भारत आई तो इसके कद्रदानों में खास से लेकर आम तक ने अपना नाम शुमार किया। स्थानीयता के गहरे प्रभाव ने इसे मैशे से माशे बना दिया और इस तरह माशे कश्मीरी संस्कृति का अभिन्न अंग बन गया।

इसकी लाजवाब और उम्दा कलाकारी ने राजसी दीवारों पर खूबसुरत सजावट के ज़रिये अपनी अमिट छाप छोड़ी। कालांतर में कश्मीर दुनिया भर में अपने सबसे बेहतरीन पेपर मैशे कला के लिए पहचाना गया। इसे कश्मीरी कला भी कहते हैं, जिसे मूल रूप से वहाँ कलमदान के रूप में जाना जाता था क्योंकि इसे आरंभ में कलम और लेखन में प्रयोग होने वाली सामग्रियों को रखने के लिए डिजाइन किया गया था। कालक्रम में कई अन्य कलाकृतियों के ज़रिये इसने अपनी पहचान कायम की। कहते हैं चीन ने सबसे पहले इस कला को ढूंढ निकाला था।

मुगलिया दौर में इस कला ने महल की छतों, दरवाजों, झरोखों, गुम्बदों, मेहराबों और पालकियों की खूब शान बढ़ाई। रानियों ने खास तौर पर इससे अपनी पालकियों को सुसज्जित किया। कश्मीरी पेपर माशे से सजी कलाकृतियां आज भी यूरोप और अमेरिका के संग्रहालय में देखी जा सकती हैं। पुराने वक्त में इसे कलात्मक रूप से लकड़ी खासकर खिड़कियों, दीवारों,छतों और फर्नीचरों पर मीनाकारी शैली में उकेरा गया। इस कला ने सदी- दर- सदी एक लंबा सफ़र तय किया है। हालांकि हिमालयी क्षेत्र के भीतर सीमित रही इस कला को घाटी के कलाकारों द्वारा परिष्कृत और परिवर्धित किया जाता रहा। अपितु इसे अपेक्षित और सारगर्भित विस्तार नहीं मिला।

कहते हैं फारस (ईरान) के संत मीर सैय्यद अली हमदानी, चौदहवीं शताब्दी में इस कला को भारत ले आए थे। और न सिर्फ कला को बल्कि अपने साथ कुछ माशे कलाकारों को भी घाटी की राह दिखा गये। इरान की कागज कला और मध्य एशिया की कागजकारी ने एक नई शैली की शानदार कागज कला को जन्म दिया जिसने आगे चलकर दुनिया भर में सुर्खियां बटोरी। बाद में कश्मीरी कलाकारों ने

इसमें स्थानीयता का पुट दिया जिससे यह एक नये रूप में उभरी। अगर शाब्दिक अर्थ की बात करें तो यह मूल रूप से फ्रांसीसी शब्द से आया है जिसका अर्थ है 'मसले तथा 'कटे हुए कागज'। अगर इसकी निर्माण प्रक्रिया की बात करें तो इसे कारीगरी के दो अलग समूहों में बांटा जा सकता है। एक शख्तसाज़ी और दूसरा नक्काशी।

शख्तसाज़ी में बेकार कागज, कपड़ा, चावल के भूसे और तांबा सल्फेट को एक साथ मिलाकर लुगदी के ज़रिये कलाकृति बनाई जाती है। लुगदी तैयार होने के बाद इसे खास तरह के लकड़ी या पीतल के सांचे में रखा जाता है। जब लुगदी सूख जाती है तो इसे एक समतल पत्थर की मदद से घिस कर चिकना किया जाता है। इसे मजबूत बनाने के लिए इसके ऊपर गोंद का उपयोग किया जाता है। फिर कटवा नामक लकड़ी से धीरे से रगड़ा जाता है। फिर ब्रश की मदद से वस्तु के अंदर व बाहर गोंद और चाक का मिश्रण लगाया जाता है। अब कागज के छोटे टुकड़ों को गोंद की मदद से उस पर चिपकाया जाता है। इसकी रूपरेखा तैयार करने में जर्द या पीले रंग का प्रयोग किया जाता है। फिर फूलों के डिजाइन उकेरकर इसे अलग-अलग रंगों से भरा जाता है।

यद्यपि इसने दुनिया भर की कलाओं में अपनी खास पहचान बनाई लेकिन आज यह पर्याप्त वित्तीय सहायता की कमी और कलाकारों की घटती रुचि के चलते दम तोड़ रही है। गुज़रते वक़्त में सरकारी उपेक्षा भी इसके पिछड़ने की एक महत्वपूर्ण वजह रही। आज बड़े पैमाने पर कलाकार इस कला को छोड़ रहे हैं। पुरानी पीढ़ी के कुछेक कलाकारों को छोड़ दें तो नई पीढ़ी में इक्का-दुक्का कलाकार ही कला की इस तहजीब को आगे बढ़ा रहे हैं। किसी समय घाटी की लोक-संस्कृति में समाई और कला की सिरमौर रही यह नायाब कला आज अपने अंतिम दिन गिन रही है। इसके क्षरण की शुरुआत अचानक नहीं हुई । उचित प्रचार-प्रसार और विपणन प्रबंधन के घोर अभाव ने शनैः-शनैः इसे सीमित कर दिया। परिणाम स्वरूप इसकी लोकप्रियता में भारी गिरावट आई। दूसरी ओर घाटी में अस्थिरता से उपजे आर्थिक असंतुलन ने बेरोजगारी को बढ़ावा दिया । फलतः यह कला भी प्रभावित हुए बिना न रह सकी।

रोजगार की तलाश में बाहर निकले युवा इसे अपनाने से कतराने लगे और सिद्धहस्त कलाकार इसे यथोचित रूप में नई पीढ़ी में हस्तांतरित नहीं कर सके। यही कारण है कि आज युवाओं में इस कला को लेकर घोर उपेक्षा का भाव दिखता है।

श्रीनगर के एक छोटे से हिस्से में अपनी कला के ज़रिये पहचान बनाने वाले माशे कलाकार अशफाक अहमद बातों -बातों में जिक्र छेड़ते हैं-''अब वह दिन

लद गए जब पेपर माशे से बनी चीजें हाथों-हाथ बिक जाया करती थी। फ्रांस से कनाडा और जर्मनी तक के बाजारों में इसकी खूब मांग थी। लेकिन समय के घूमते पहिए ने इसकी मांग को यकायक घटा दिया"। थोड़े रुआंसे होकर वो आगे कहते हैं-"इधर पर्यटक की आवक कम होने से भी विपणन में तेज़ी से बदलाव आया है। घाटी में अस्थिरता और आंतक के माहौल से बाजार में कम रौनक है।

पहले जहां एक कलाकृति के हज़ारों रुपये मिल जाते थे और थोक बाज़ार में भारी मांग के चलते आपूर्ति में कई-कई दिन लग जाते थे। वहीं अब तैयार माल की खपत में महीनों लग जाते हैं। माशे आइटम मुश्किल से ही बिक पाते है। खुदरा बाज़ार से थोक बाज़ार में चरणबद्ध आपूर्ति का सिलसिला इन दिनों थम-सा गया है। दिहाड़ी कामगारों की भी जिंदगी मुहाल हो गई हैं।

कागज कूटने से लेकर लुगदी तैयार करने में इन्हीं कामगारों की मदद ली जाती है। दिहाड़ी कम होने से उनकी मुश्किलें बढ़ी है। पहले 4 से 5 सौ रुपये दिहाड़ी मिल जाती थी। अब मुश्किल से डेढ़ सौ से दो सौ रुपये ही जुड़ पाते हैं।" अशफाक आगे कहते हैं-"कागज भी अब पहले से ज्यादा महंगा हो गया है। अंडे की गत्ते वाली खाली ट्रे को लुगदी के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है जिसे अब दुकानदार तय मूल्य से ज्यादा पर बेचने लगे हैं।

कच्चा माल महंगा होने और मज़दूरी ठीक-ठाक न मिलने के चलते व्यापार में लगातार घाटा हो रहा है। माशे व्यापारियों का आकर्षण इस ओर घटा है। वे किसी भी हाल में इस पेशे को अब आगे बढ़ाना नहीं चाहते। वे वैकल्पिक अवसरों को तलाश रहे हैं। जिन व्यापारियों का ये पुश्तैनी धंधा था वे भी अब इसे करने से कतराने लगे है। कई माशे कलाकार तो इसे छोड़ ऑटो रिक्शा चलाने जैसा काम करने लगे हैं।" पूछने पर वे कहते है-" दूसरे कामों में कम से कम दिहाड़ी तो ठीक-ठाक मिल जाती है और परिवार का भरण-पोषण आसानी से हो जाता है। लेकिन इस काम में तो हफ्तों फाके रहते है। नयी पीढ़ी का इस कला के प्रति घटता रुझान इस बात की तस्दीक करता है की अंदरूनी स्थितियां कितनी भयावह है। लोग इसे अपनाने से बच रहे हैं।

भारतीय संस्कृति, विभिन्न कलाओं की आश्रयस्थली रही है। इसने दुनियाँ भर की कलाओं को अपने ज़द में पनाह दी हैं। समय की दहलीज़ पर वे पल्लवित और पुष्पित हुई हैं। कालान्तर में इनकी संरचना में और प्रस्तुति में बदलाव आया फलतः ये और अधिक परिष्कृत हुई। लेकिन विकास के निर्मम दौर ने तमाम ऐसी कलाओं को ज़मींदोज़ कर दिया। कुछ इतिहास के पन्नों में दफ़न हो गयी वहीं कुछ आधुनिकता की चमक-दमक में अपना मूल स्वरूप खो बैठी। भूमंडलीकरण और विकासवाद की अंधी दौड़ में कहीं ये समूल नष्ट न हो जाए इसके महती प्रयास ज़रूरी है। इन अद्भुत कलाओं को सँजोने की तत्काल ज़रूरत है। सिर्फ वित्त पोषण ही नहीं अपितु पर्याप्त प्रचार-प्रसार भी इसे संरक्षित करने में अपनी भूमिका निभा सकता है। साथ ही इस कला से जुड़ें घाटी के कलाकारों को समूचित आर्थिक सहायता देने की भी ज़रूरत है।नई पीढ़ी इसे सहर्ष अपनाये इसके लिए प्रशिक्षण,प्रोन्नयन,पोषाचार और नवाचार की ज़रूरत है। कलाएँ मानव के जीवित इतिहास की सबसे बड़ी साक्ष्य है।

इसे संरक्षित और परवर्धित किया जाना बेहद ज़रूरी है तभी इन्हें परम्परा के सजग प्रहरी के रूप में स्थापित किया जा सकेगा। घाटी की इस नायाब और दुर्लभ कला को सरकारी संरक्षण की ज़रूरत है। अगर समयोचित प्रयास न किये गए तो इसे विलुप्त होने से रोका नहीं जा सकेगा। इस दिशा में कुछ गिने-चुने कलाकारों को वित्तीय सहायता देकर दोबारा उन्हें इस दिशा में उन्मुख करने की ज़रूरत है। तभी इस शाही कला को आधुनिक काल में भी जीवित रखा जा सकेगा।

*****

मानस में लोकमंगल की भावना: सांस्कृतिक-समरसता की कामना

बिपिन कुमार झा
वरिष्ठ अनुवाद अधिकारी,
भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण

साहित्य, समाज एवं संस्कार: एक विहंगावलोकन

भारत वर्ष के पुरातन काल की परंपरा, अतीत के सहस्त्र वर्षों का साहित्य और मानव की उत्पत्ति के समय एवं परवर्ती समय के समाज के विगत-वर्षों की पुरातात्विक एवं प्रागैतिहासिक उपलब्धियों पर प्रकाश प्रक्षेपित करते हुए अतीत के पृष्ठों का अवलोकन करने पर यह दृष्टिगोचर होता है कि साहित्य, समाज एवं संस्कार व संस्कृति के अभिन्न अवयव हैं और इनके मध्य अत्यंत घनिष्ठ एवं आत्मीय संबंध हैं। यह उसी प्रकार से अग्रसरित एवं विकसित होता है जैसे **एक बीज से वृक्ष का विकसित होना और तदुपरांत इसमें से अनके शाखाओं का पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होकर एक विशालकाय परोपकारी वृक्ष का रूप धारण करना**। भारत वर्ष में साहित्य तो उस कल्याणकारी वट-वृक्ष के समान है जिसकी सभी शाखाएँ अत्यंत घनीभूत होकर पल्लवित एवं पुष्पित हुई हैं और जो अपनी श्रांत एवं शीतल छाया से भगवान बुद्ध एवं उनके प्रबुद्ध शिष्यों तथा विद्यापति, तुलसीदास, सूरदास, मीराबाई जैसे महान भक्त कवियों सहित समस्त जन मानस को सतत संतृप्ति का अनुभव प्रदान करती हैं।

मानस : सांस्कृतिक समरसता की सरिता

भारतवर्ष की साहित्यिक विरासत अत्यंत समृद्ध एवं विकसित है जिसका उल्लेख करना गागर में सागर भरने के सदृश्य प्रतीत होता है। परंतु यह कहना समीचीन प्रतीत होगा कि भारत के गौरवमय समृद्ध साहित्य में भक्ति-साहित्य को सर्वश्रेष्ठ साहित्य की उपमा दी जा सकती है। वस्तुत: भक्ति-साहित्य तो साहित्य मात्र न होकर प्रबुद्ध जनमानस के जीवन की संजीवनी है। तुलसीदास जी द्वारा विरचित रामचरित मानस राम-भक्ति की सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वश्रेष्ठ कृति सिद्ध हुई। मानस के सृजन के समय के समाज एवं संस्कार की छाप इस साहित्यिक भूषण में सर्वत्र दृष्टिगोचर है। मानस एक साहित्यिक कृति मात्र न होकर सर्वोपकारी एवं लोकमंगलकारी महाकाव्य है। इसमें तुलसीदास जी ने लोकमंगल की भावना को व्यक्ति, परिवार, समाज एवं देश के चार सशक्त स्तम्भों द्वारा इसे भारतीय संस्कृति के स्वर्ण-जटित सिंहासन पर विराजमान करते हुए आदर्श का सर्वोत्तम स्वरूप प्रस्तुत किया। मानस में लोकमंगल की भावना इसके एक पात्र, एक कांड की परिधि तक सीमित न रहकर इसके सभी पात्रों एवं समस्त आठ कांडों के माध्यम से आद्योपांत तक परिलक्षित प्रतीत होती है। आइये! मानस में निहित सांस्कृतिक-समरसता की कामना जो लोकमंगल की भावना द्वारा चरितार्थ की गई है पर एक सूक्ष्म दृष्टि प्रक्षेपित करने का प्रयास करते हैं:-

मानस : एक सूक्ष्म दृष्टि:

भक्ति-काल के भव्यतम कवि तुलसीदास ने अपने जीवन काल में अनेक कालजयी ग्रंथों की रचना की जिनमें प्रमुख ग्रन्थ हैं- श्रीरामचरितमानस, कवितावली, रामलला नहछू, वैराग्य संदीपनी, रामाज्ञा प्रश्न, जानकी मंगल, पार्वती मंगल, विनय पत्रिका, बरवै रामायण और दोहावली। तुलसी की समस्त रचनाओं में रामचरितमानस, विनयपत्रिका, कवितावली और गीतावली प्रमुख हैं। लोक-कल्याणकारी महाकाव्य रामचरितमानस के सन्दर्भ में कवि की यह आर्श वाणी सटीक प्रतीत होती है :

"पश्य देवस्य काव्यम, न मृणोति, न जीर्णति"

अर्थात-देवपुरुषों का काव्य देखिए, जो न तो मरता है और न पुराना होता है। सर जॉर्ज ग्रियर्सन के अनुसार **मानस हिन्दुओं का बाइबिल** है। मानस की महत्ता को आचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती जी ने अपने इस श्लोक द्वारा व्यक्त किया है :

आनंद कानने ह्यास्मिञ्जङ्गमस्तुलसीतरुः।

कवितामञ्जरी भाँति रामभ्रमरभूषिता।।

अर्थात- " काशी के आनन्द-वन में तुलसीदास साक्षात् चलता-फिरता तुलसी का पौधा है । उसकी काव्य मंजरी बड़ी ही मनोहर है, जिस पर श्रीराम रुपी भंवरा सदा मँडराता रहता है। इस महानतम महाकाव्य की रचना करने के बाद भी तुलसी में अभिमान का दर्प नहीं आया जो उनकी समर्पित राम भक्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत करता है। इस सन्दर्भ में महाकवि ने स्वयं लिखा है:

"कवित्त विवेक एक नहीं मोरे, सत्य कहूँ लिखि कागद कोरे।

मानस में लोकमंगल की भावना: परिचयात्मक स्वरूप

भक्ति-काव्य के शिरोमणि महाकवि तुलसीदास जी के समस्त काव्यों में लोक मंगल की भावना का प्रचुर समावेश है तथापि मानस में लोकमंगल और लोकरंजन की भावना अपनी पराकाष्ठा पर विराजमान प्रतीत होती है। मानस में लोक मंगल की वह देदीप्यमान आभा श्री हैं जिसके समक्ष अन्य कवियों की लोक-कल्याणकारी कृतियाँ लघु तारिकाओं के सदृश दृष्टिगोचर होती हैं। इसी कारण से हम मानस में सन्निहित लोक-कल्याण की तुलना किसी पूर्ववर्ती या उत्तरवर्ती कृतियों से नहीं कर सकते अथवा ऐसा करना एक निष्फल प्रयास ही होगा।

मानस में निहित लोकमंगल व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व के सर्वांगीण विकास का युग-युगांतर तक पथ प्रदर्शक रहा है। तुलसी ने श्रीराम के आदर्श जीवन चरित द्वारा मानव जीवन की समस्त समस्याओं का समाधान और आदर्श जीवन का उत्कृष्टतम उदहारण प्रस्तुत किया है। तुलसी द्वारा सृजित मानस के पात्र, व्यक्ति की कल्पना के पात्र न होकर मानव जन-जीवन के जीवंत पात्र हैं जिनके माध्यम से तुलसी ने घर-घर और घट-घट में आदर्श का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया है। मानस में निहित लोकमंगल की भावना उन्ही के कंठ से इन शब्दों से निःसृत हुई:

"कीरति भनित भूति भल सोई। सुरसरि सम सब कह हित होइ।।

अर्थात- यश, कविता और वैभव वही श्रेष्ठ है, जिससे गंगा के समान सबका कल्याण हो। मानस पर एक पृथक दृष्टिपात करें तो इसमें निहित एक अन्य विशेषता द्रष्टव्य होती है। यह विशेषता है- **लोक मंगल एवं सांस्कृतिक समरसता**। तुलसी ने रामकथा के माध्यम से गृहस्थ जीवन का आदर्शतम चित्र प्रस्तुत किया है। तुलसीदास जी ने मानस के माध्यम से आदर्श चरित्रों के द्वारा भारतवर्ष के भावी समाज एवं सामाजिक-समरसता की कल्पना की। उनकी भक्ति-भावना लोकमंगल की भावना से सराबोर है जो मानव जीवन के समस्त मूल्य, संस्कृति, सभ्यता, धर्म एवं समरसता को प्रदर्शित करने के लिए एक प्रकाश-स्तम्भ की तरह सतत मार्गदर्शन करता है। इस प्रकार, मानस में लोकमंगल की भावना युग-युग तक मानव जीवन को अपनी शीतलता से संतृप्त करती रहेगी। रामचरितमानस में तुलसीदास जी ने मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम को केंद्रित करके मनुष्य के सभी आदर्श चरित्रों की भव्य व्याख्या की है। उन्होंने आदर्श पुत्र के रूप में राम, आदर्श पत्नी के रूप में जानकी, आदर्श भ्राता के रूप में लक्ष्मण एवं भरत, आदर्श मित्र के रूप में सुग्रीव, आदर्श सेवक के

रूप में हनुमान के साथ-साथ अन्य पात्रों के द्वारा जन-जन में लोक-कल्याणकारी चरित्रों की स्थापना का अद्वितीय कार्य किया है। आज भी परिवार में, समाज में, लोग अपने प्रिय सम्बन्धियों की तुलना मानस के पात्रों से ही करते हैं जो वर्तमान समाज पर मानस की अमिट प्रभाव को प्रतिबिम्बित करता है। मानस में लोकमंगल एवं लोक-कल्याण की भावना को खजूर वृक्ष की तरह एक संकुचित क्षेत्र में न रखकर इसे विशाल वटवृक्ष की भाँति अनंत-आकाश प्रदान किया गया है। तुलसी ने मानस के माध्यम से जनमानस के नैसर्गिक जीवन की अभिव्यक्ति को लोक-कल्याणार्थ सरलतम, सहजतम एवं सर्वोत्तम रूप में प्रस्तुत किया है। तुलसी ने नारी की महिमा एवं गरिमा की भव्यतम अभिव्यक्ति करते हुए मानस के समस्त स्त्री पात्रों द्वारा समाज में उनकी स्वंत्रता, समानता एवं सदभावपूर्ण-स्वीकार्यता का चित्र प्रस्तुत किया है। इस संदर्भ में मानस की निम्नांकित पंक्तियाँ वर्णनीय है:

"कत विधि सृजि नारी जग माहिं। पराधीन सपनेहुँ सुख नाहिं।।

एवम

"धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी। आपद काल परखिये चारी।।

सत्य, धर्म, न्याय, सुनीति, मर्यादा, विवेक और आचरण जैसे सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों की स्थापना के लिए तुलसी ने मानस को अपना माध्यम बनाया। इतना ही नहीं, तुलसी ने तत्कालीन समाज में दरिद्रता, दुःख, पीड़ा और कष्ट से कराहते मानव को रामचरितमानस के द्वारा मंगल, आशा, भक्ति, सत्य, कर्म एवं धर्म को आधार बनाकर भक्तिमय, आनन्दमय एवं मंगलमय जीवन जीने का शुभ संकल्प दिया। एक मानस ही ऐसा महाकाव्य है जिसमें जाति, वर्ण, धर्म, शैव-वैष्णव, स्त्री-पुरुष, राजा-रंक यहाँ तक की जड़ और चेतन सबके लोकमंगल की कामना की गई है। भगवान श्रीराम ने अपने भक्तों के लिए दयालुमात्र न होकर अपने शत्रु रावण के भ्राता विभीषण के प्रति भी उदार व्यवहार का परिचय दिया। इस सन्दर्भ में प्रस्तुत पंक्तियाँ समीचीन प्रतीत होती हैं:

"तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेस्वर कालहु कर काला।।

इसी प्रकार से शैव एवं वैष्णव के समन्वय के लिए तुलसी का यह दोहा अत्यंत सार्थक प्रतीत होता है:

"शिव द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहि ना पावा।।

तुलसी ने रामराज्य के लोक-कल्याणकारी रूप का वर्णन करने के लिए इन पंक्तियों को माध्यम बनाया:

"नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना।

इसके अतिरिक्त राम-भक्त तुलसीदास जी ने राम-राज्य का लोक कल्याणकारी रूप वर्णित करके उसे युग-युग के लिए प्रेरणा स्रोत बनाकर प्रतिष्ठित किया। मानस के द्वारा इसी आदर्श राज्य की स्थापना में लोक-कल्याण की समावेष्टि तुलसीदास जी ने निम्नांकित पंक्तियों के द्वारा की:

"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। तें नृप अवसि नरक अधिकारी।।

तुलसी ने मानस में वर्णित राम राज्य को समस्त सुखों का मूल मानते हुए कहा है:

"दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥

इन सभी लोक-कल्याणकारी सिद्धांतों का मूल लक्ष्य मानस के द्वारा मानव जीवन में कृपासिंधु भगवान श्री विष्णु के रामावतार के सुखकारी संदेशों को समाहित, संदर्भित, संस्थापित और सम्प्रेषित करना था। ऊपर वर्णित सभी सन्दर्भ, प्रसंग एवं दोहा इत्यादि का विश्लेषण करने के पश्चात् यह समीचीन प्रतीत होता है कि श्रीरामचरितमानस लोकमंगल एवं लोक-कल्याण का महाकाव्य है जो वर्तमान समय में

भी लोकमंगल एवं सामाजिक-समरसता को महत्तम रूप में अधिष्ठापित करता है।

इसके अतिरिक्त, मानस में रामचरित का वर्णन करते हुए तुलसीदास ने धर्म का व्यापक स्वरुप दिखलाया और यह सन्देश दिया की अहिंसा और परोपकार परम धर्म है जबकि पर-पीड़ा घोर पाप है। इस सन्दर्भ में निम्नांकित पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं:

"पर हित सरस धरम नहीं भाई। पर-पीड़ा सम नहीं अधमाई।।

मानस: सामाजिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक निष्कर्ष:

साहित्य समाज का दर्पण होता है। साहित्य समाज में जनमानस के मध्य भावनाओं के आदान-प्रदान की अभिव्यक्ति होती है और यही अभिव्यक्ति साहित्य में संचित होकर आगामी पीढ़ी के लिए अनुसरणीय हो जाती है जिसे संस्कार की संज्ञा दी जाती है। साहित्य, समाज एवं संस्कार तीनों के मध्य अन्योन्याश्रय का संबंध है जिसकी उपमा त्रिवेणी से दी जा सकती है। साहित्य, समाज एवं संस्कार तो गंगा, यमुना एवं सरस्वती नदियों की धाराओं के सदृश हैं जो सम्मिश्रित होकर ''संस्कृति'' नामक त्रिवेणी का सृजन करती है जिसकी श्रांत एवं शीतल धारा से भारतवर्ष सहित समस्त विश्व के प्रबुद्ध जनों के मन-मानस का रंजन होता है और सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास में सहायता मिलती है।

इस प्रकार, मानस में लोकमंगल की भावना को व्यापक-आयाम एवं विस्तृत-विमर्श प्रदान करते हुए महाकवि तुलसीदास जी ने भारतीय संस्कृति को सार्वभौम, समरस, सर्वोपकारी एवं शाश्वत सोपानों के द्वारा स्वर्णिम सिंहासन पर विराजमान किया है जिसकी स्वर्णिम किरण-पुंज से संपूर्ण भारतवर्ष युगों-युगों तक देदीप्यमान होगा। प्रस्तुत आलेख में निहित मूल-मर्म एंव संदेश को संक्षिप्त रूप में निम्नलिखित स्व-रचित पद्यांश द्वारा प्रस्तुत करने का शैशवीय प्रयास किया जा रहा है:-

''संस्कृति के तीनों अवयव, साहित्य, समाज और संस्कार!

हो सम्मिश्रित संगम धारा, बनता जीवन का आधार!!

अंततः यह कहना समीचीन प्रतीत होगा कि मानस के माध्यम से गोस्वामी तुलसीदास जी ने भगवान् श्री विष्णु के मानव रुपी अवतार श्री राम के चरित्र के द्वारा लोकरक्षक, लोकरंजक, लोक-कल्याणकारी एवं लोकमंगलकारी रूप को इस दोहा के द्वारा प्रस्तुत किया है:

"जब जब होई धरम कै हानि, बढ़हिं असुर, अधम, अभिमानी।

तब-तब प्रभु धरि मनुज सरीरा, हरहिं कृपानिधि सज्जन पीड़ा।।

सन्दर्भ स्त्रोत:

1.श्रीरामचरितमानस-गोस्वामी तुलसीदास,गीता प्रेस, गोरखपुर।

2.विनय पत्रिका-गोस्वामी तुलसीदास, गीता प्रेस, गोरखपुर।

3.मानस-मंगल: सीतेश आलोक, मेधा बुक्स, दिल्ली।

4.संस्कृति: बाल्मीकि प्रसाद सिंह, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

5.भारतीय संस्कृति: नरेंद्र मोहन, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली।

6.कंब रामायण: पी. एस. सुंदरम, पेंगुइन इंडिया, दिल्ली।

7.महात्मा गाँधी अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की पाठ्य पुस्तकें।

8.पांडिचेरी विश्वविद्यालय की पाठ्य पुस्तकें।

9.हिंदी-समय (www.hindisamay.com)

10.विकिपिडिया (www.wikipedia.org)

*****

पारम्परिक नृत्य

आशीष दशोत्तर
12/2,कोमल नगर, बरबड़ रोड
रतलाम (म.प्र.) 457001

अपने पूरे शबाब पर पहुँचने के बाद जब सर्द मौसम ग्रीष्म में खोने पर मजबूर होता है, तब इस शहर की फिज़ा में अपनी तहज़ीब और रवायत की एक लहर हिलोरे मारने लगती है। ठिठुरती सर्द रातों और ग्रीष्म की कठोरतम दोपहरी को सहन करने से लोगों को यह वक्त सुकून देने वाला लगता हैं। यहां बात हो रही है राजस्थान की सांस्कृतिक धरोहरों से लबरेज 'बीकानेर' की। बसंत की दस्तक के बाद फागुन का आगमन होता है, यही समय बीकानेर के लिए यादगार होता है । इस मुफीद मौसम में नए रंग भरने का क्रम शुरू होता है, उस वक्त जब गली-मोहल्ले 'रम्मत' से रू-ब-रू होने लगते हैं। जो लोकनाट्य परम्परा की सशक्त एवं महत्वपूर्ण शैली है। इस शहर और इसकी अनूठी रवायतों से परिचित होने का जिसे भी अवसर मिला वह उसी का होकर रह गया। कोटगेट के भीतर के इलाके, जिसे पुराने शहर के रूप में भी जाना जाता है, जहां के पाटों पर रात-रात भर चलती बहस दुनियाभर के विमर्शकारों को यथार्थ बताने के लिए काफी होती है, वहीं आत्मीयता और अपनत्व की बयार भी चलती हैं। इसी अपनेपन का आभास कराती है, यहां की 'रम्मतें'।

राजस्थान की सांस्कृतिक विरासत समृद्ध है। विभिन्न पर्वों के अवसर पर यहां प्राचीनकाल से चली आ रही परपराएँ आज भी जीवित हैं तो इसीलिए कि यहां के पानी में रवानी है, मगर अपनी तहज़ीब के प्रति समर्पण भी है। इसी राजस्थान के बीकानेर का नाम आते ही मन में कई संदर्भ उपस्थित हो जाते हैं, जिनमें भुजिया के स्वाद से लेकर भवनों की कलात्मकता और माड गायकी का सलोनापन भी मौजूद रहता है। लोक परंपरा से जुड़े बीकानेर के नाम से जुड़ी विधा है 'रम्मत'। आम आदमी अपनी समझ में जिसे नौटंकी या नाट्य लीला कहता है, वही रम्मत का स्वरूप है।

बसंत की दस्तक के बाद फागुन का आगमन होता है, यही समय बीकानेर के लिए यादगार होता है । इस मुफीद मौसम में नए रंग भरने का क्रम शुरू होता है, उस वक्त जब गली-मोहल्ले 'रम्मत' से रू-ब-रू होने लगते हैं।

बीकानेर में रम्मतों की शुरूआत महाराजा सरदारसिंह के शासनकाल 1851-1872 के दौरान मानी जाती हैं । होली से तकरीबन एक माह पूर्व से रम्मतों की शुरूआत हो जाती है, और हर गली और मौहल्ले में रम्मत का अभ्यास होता है। क़रीब एक माह की तैयारी के बाद इसका मंचन भी इन्हीं मोहल्लों में होता है। रियासतकाल में राजा-महाराजा इन रम्मतों का आयोजन करवाते रहते थे। इनमें मर्दों को दोहरी भूमिका यानी स्त्री और पुरूष की, निभानी पड़ती हैं। एक कहानी को नाट्य के रूप में प्रस्तुत करने के लिए बच्चे,बड़े सभी ठिठुरती रातों में अभ्यास करते हैं। पूर्व में कथानक राजाओं के गुणगान से भरा होता था मग़र इसमें धीरे-धीरे बदलाव होते गए। इन दिनों बीकानेर में दो तरह की रम्मतें देखने को मिलती हैं। पहला प्रकार होता हैं सांगमेरी, जिसमें चौमासा, लावणी, ख़याल के माध्यम से प्रस्तुति होती है, वही दूसरा प्रकार कहलाता है कथात्मक सांगमेरी, जिसमें कथात्मक शैली होती है।

- प्रमुख रम्मतों में अमरसिंह की रम्मत, हडाउ-मेहरी की रम्मत, नौंटकी, राजा हरिशचंद्र की रम्मत, राजा गोपीचंद की रम्मत, मालियागिर की रम्मत, वीर अभिमन्यु की रम्मत, चकवे बेन का ख़याल एवं अन्य। इनका उद्देश्य कभी राजाओं का गुणगान होता था मग़र अब इनके माध्यम से सामाजिक चेतना की बात कही जाती है। मायड़ भाषा में गीतात्मक संवाद, बुलंद आवाज़ में संवाद अदायगी और आकर्षक स्वांग इन्हें जीवंत बना देता हैं। यह रम्मतें हमारे रंगीन संसार को प्रामाणिकता प्रदान करती हैं। रम्मतों में प्रस्तुत किये जाने वाले गीत भी सुकांत शब्दावली में होते हैं। कुछ बानगी देखिए-

कुंभल नरे कटार गढ़, पण आवोला फेर, जाय कहो इन साजने सौ वैसो हो कुंभलनेर।

डाण मांगे सो राजवी, रण झूंझै रजपूत, पदमण महल पधार सौ, पिछै डावज जासी छूट।

राठौडां री रीत रा, कैड़ा करू बखाण, फौज्यां झंडा फिर रहया, कूद रह्या कीकाण।

दरअसल रम्मत में प्रस्तुत किए जाने वाले दृश्य अपने पालनहारों की वीरता और शौर्य का बखान करते रहे। शासक के गुणों का गुणगान और प्रशंसा का भाव जनता के स्वभाव में विद्यमान होता है और येन-केन वह अभिव्यक्त भी होता है।

यह प्रवृत्ति किसी काल विशेष की नहीं होकर सार्वकालिक होती है। रम्मत में प्रस्तुत होने वाले गीत भी इसी प्रवृत्ति का परिचय देते हैं। इसी का आभास सोरन में मिलता है। सोरन के माध्यम से महाराजा सार्दुल सिंह की वीरता और उनके स्वभाव का गुणगान जिस ख़ूबसूरती से किया जाता है, इससे उनका संपूर्ण चरित्र जीवन्त हो उठता है।

सोरन विराजत है बीकाणनाथ, नगर देश बीकानेर मांही, गादी विराजै सार्दुलसिंह जी सो ही तपचारी हैं। शिवबाडियां में देख बारै, महादेव मेहर करी,

सार्दुलसिंह जी को सुत सो कुल में अवतारी है।

लक्ष्मीवर देख बींरै सदा ही सहाय करें, शत्रु संहार कारण करनी महामाई है। कहत वलमालीदास नगर देश बीकानेर माहीं, राठौडां री मरोड़ पर तो करोड़ मोर वारी हैं। करणीसिंह नरेश सुरेश महिपत जय जंगलधर हिंदुस्तानी, विद्वान बुद्धि के सागर बोल रहे मुख वेद सी वानी। जैसलमेर उदैपुर, जैपुर बीकापुरै की रीत बखानी, न्यायकरत सार्दुलसिंहजी के सुत दूध का दूध पानी का पानी।

कमर कसरा बांकुड़ा बांकी धन मरोड़,

बंका जस डंका बजै, तिर्के रण बंका राठौड।

अटल राज राठौड़ा सा रूट दर्शन प्रतिपाल,

करोड़ दिवाली राज करो कर्णीसिंह भोपाल।

कड़वा घोड़ा कूदणा, हद हाटयां रो जोड़,

मारू मरूधर देश में राज कुली राठौड़।

राज भलो राठौड़ां रो, मरूधर हंदो देश,

जंगल में मंगल करें,करणीसिंह नरेश।

बृज देशां चंदन बड़ो, मेहर पहाडां मोड़,

गढ़ खंगो गठो,सो राजकुली राठौड़।

रम्मत के ज़रिए न सिर्फ राजस्थान के शौर्य और वैभव का पता चलता है बल्कि वक़्त के उतार-चढ़ाव का आभास भी होता है। समय-समय पर हुए सत्ता के संघर्ष और अपनी आन-बान और शान को कायम रखने के लिए की गई कोशिशों की झलक भी यहां देखने को मिलती है। यहां की सम्पदा, यहां के संस्कार और ख़ास तौर से राजस्थान की माटी की महक इन रम्मतों में मिलती है। राजस्थान की रंग-बिरंगी संस्कृति का भी रम्मतों के माध्यम से सुंदर वर्णन किया जाता है। इस तरह गीतों में कई प्रतीकों

का प्रयोग करते हुए प्रस्तुति को जीवन्त बनाया जाता है।

कच्छावां री कोटरी माजम री मनवार,

करो कशुम्बों चैगुणों,पछै जो मांगे सो त्यार।

ताता चढ़े तुरंग पर,चढ़ै शिकारयां शेर,

कच्छावा किकोण बड़ो,उपंत गढ़ आम्बेर।

मौज सुरंगी मालियै,फूल बाग चैफेर,

चीज अनोखी चैवटे,या धरती आम्बेर।

सैंस मेवाड़ सिसोदिया बीकोज बीकानेर,

बूंदी पर हाडा बसैं कच्छावा आम्बेर।

सिसोदियां रै साथ मैं,राणो रूपल एक,

चढ़े गढ़ चितौड़ रै पछै सायब राखे टेक।

एक और खासियत रम्मत में देखने को मिलती है कि इनमें जीवन के हर रंग समाहित होते हैं। यानी जिस गंभीरता से इसे प्रस्तुत किया जाता है और जिस तन्मयता से इसे लोग देखते हैं,उनके मध्य एक तादात्म्य स्थापित रहता है। ज़िंदगी में जहां खुशी होती है तो ग़म भी। प्यार होता है तो नफ़रत भी। विरह होता है तो श्रृंगार भी। रम्मत में भी सब कुछ होता है। सैकड़ों की संख्या में गली के ओटलों, घरों की खिड़कियों या मुण्डेरों पर जमा लोग इन रम्मतों में कहीं न कहीं अपने को भी पाते हैं। 'कटेलड़ी' में विरह का वर्णन करते हुए इस तरह का दृश्य प्रस्तुत किया जाता है कि देखने वालों को चरित्रों से सहानुभूति होने लगती है।

प्यारै पतियां नहीं लिखी बहुत गए दिन बीत,

आप तो ऐसी जाण ली, मुख देख्यां री प्रीत।

चंद्र बहुली चांदनी, नदी बहुली धार,

मेघ बहुली दामिनी, ज्यों पिया बहुली नार।

शब्दों की जुगाली से किसी को बहलाया अवश्य जा सकता है पर प्रभावित तभी किया जा सकता है जब शब्द गहरे अर्थ लिए हों। रम्मत में अभिनेता के साथ शब्दों के प्रयोग को ले कर भी गंभीरता बरती जाती है। रम्मत के लिए प्रयुक्त रचनाओं के रचनाकारों की शिद्दत और समर्पण भी दृष्टिगोचर होता है। समाज को एक सीख मिले और नई राह दिखाई दे इसके प्रति भी रचनाकार सचेत रहे हैं। इसी आशय के विचार इस 'सोरण' में दिखलाई पड़ते हैं जहां तुलनात्मक रूप से जीवन के उस सत्य को उद्घाटित किया गया है जहां हर किसी की पहचान किसी न किसी से होती है।

अंजन बिना नैन ज्यूं सुगंध है गुलाब बिन,

आब बिन मोती जोत अधरन बिन बीड़ा है।

बिज बिन बादल ज्यूं सागर है बादर बिन,

मौजी बिन मौज ज्यूं हेम बिन हीरा है।

रावत बिन फौज ज्यूं, हौद है फव्वार बिन,

जौबन बिन जोर ज्यूं, बाड़ी बिन भंवरा है।

कहत मनीराम प्यारे, बिन नैणां नेह नहीं,

प्यारी बिन ऐज ज्यूं सुपारी बिन बोझ है।

षषि बिन सूनी रैन, ज्ञान बिन ह्दय सूनो,

कुल सूनो बिन पूत पात बिन तरूवर सूनो।

गज सूनो बिन दंत हंस बिन सागर सूनो,

सिंह बिन संग्राम सूनो, घराज सूनी दामिनी।

बेहाल रहे विहम पुन, घर सूनो बिन कामिनी।

इस परंपरा को देखकर यह लगता ही नहीं है कि यह किसी विशेष क्षेत्र या स्थान की है। यह हमें अपने आसपास की ही प्रतीत होती है। लोककला और अपनी नाट्य परंपरा इसमें हमें दिखाई देती है। लोकरंग की इस परंपरा का स्मरण करना भी अपने जीवन को रंगों से परिपूर्ण करने के समान है। आप भी इस लोकरंग में स्वयं को रंगिए और रम्मत को महसूस कीजिए।

*****

एकत्व का विज्ञान

सनातन कुमार
उप निदेशक,
राज्य सभा सचिवालय, संसद भवन

शून्य भारत की देन है- इस बात के जितने प्रमाण हैं, उससे कहीं अधिक प्रमाण इस बात के हैं कि एक और एकत्व की अवधारणा भी भारत की देन है जो शून्य से कम महत्वपूर्ण नहीं है।

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस के उत्तरकांड में ज्ञान को परिभाषित किया है-

('ज्ञान अखंड एक सीतावर। मायाबस्य जीव सचराचर।।')

ज्ञान अखंड है। ज्ञान एक है। बहुलता माया है। तत्त्वत: सत्ता एक है। बहुलता आभास मात्र है। सत् एक है-

('एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति।')

जब कहीं पर कुछ भी नहीं था, वही था, वही था। वह एक था, उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। वह बिना वायु के प्राणन क्रिया कर रहा था। वह स्वधा अर्थात् अपनी अव्यक्त मूल प्रकृति से युक्त था। उसे अपने अस्तित्व के लिए किसी की अपेक्षा नहीं थी। वह निरपेक्ष था। वह काल, देश और वस्तु से भी परे था:

("आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्न परः किञ्चनास")

(नासदीय सूक्त 3 ऋग्वेद दशम् मंडल)

स्टीफेन हाकिंग, रोजर पेनरोज आदि वैज्ञानिकों ने **सिंग्युलरिटी ऑफ एक्जिस्टेंस** के प्रमेय को सिद्ध किया है और उनका मानना है कि इस ब्रह्माण्ड की अभिव्यक्ति उसी **सत्ता के एकत्व** से हुई है। **सत्ता के एकत्व** से ब्रह्माण्ड की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को **बिग बैंग** कहते हैं। रोजर पेनरोज का प्रमेय है -

"एकत्व वह बिन्दु है जिसमें देश और काल का लय हो जाता है।"

स्टीफेन हॉकिंग ने इस प्रमेय के क्रम को उलटते हुए कहा कि

"एकत्व वह बिन्दु भी है जहां से काल का आरंभ होता है।"

इस प्रकार विज्ञान के अनुसार काल और देश का जन्म और लय भी एकत्व में होता है। महाभारत में कहा गया है -

"अनुलोमेन जायन्ते, लीयन्ते प्रतिलोमत:" (महाभारत शान्तिपर्व)

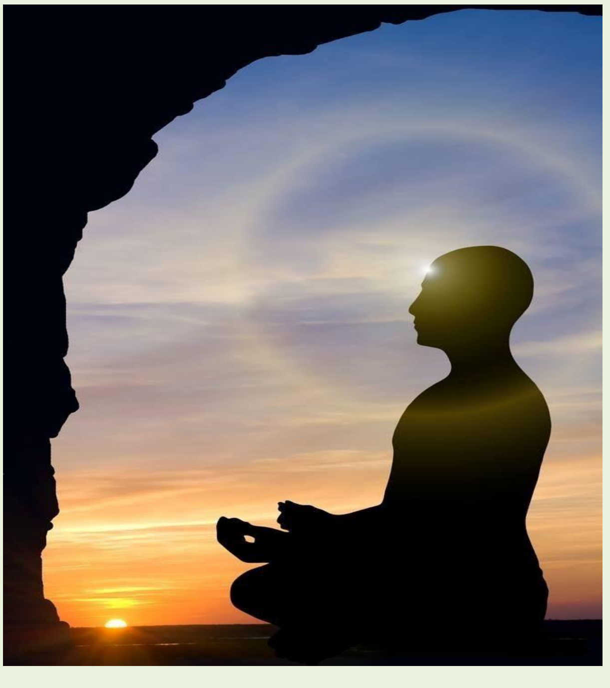

जिस क्रम से उत्पत्ति होती है, उसके विपरीत क्रम से लय होता है। 'ब्रह्माण्ड' शब्द की उत्पत्ति 'बृह' धातु से हुई है जिसका प्रयोग वृद्धि अर्थ में होता है । अण्ड बीज अथवा अण्डे के आकार का द्योतक है। हमारे ब्रह्माण्ड का लगातार विस्तार हो रहा है। एक गैलेक्सी से दूसरे गैलेक्सी की दूरियां बढ़ती जा रही हैं। कोई आकाशगंगा हमसे जितनी दूर है, वह उतनी ही तेजी से दूर जा रही है। एडविन हबल ने प्रेक्षण किया कि ब्रहमाण्ड का विस्तार हो रहा है :

"हबल के अवलोकनों से पता चला कि दूरस्थ आकाशगंगाएँ हमसे उस गति से दूर जा रही हैं जो मूल रूप से हमसे उनकी दूरी के समानुपाती है, इसलिए यदि हम अतीत की ओर जाते हैं, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सब कुछ कमोबेश एक ही समय में एक साथ आया होगा। एक अद्भुत विस्फोट हुआ होगा-जिसे अब हम 'बिग बैंग'कहते हैं - जिससे सभी पदार्थों की उत्पत्ति हुई है।"

(साइकल्स ऑफ टाइम, रोजर पेनरोज़)

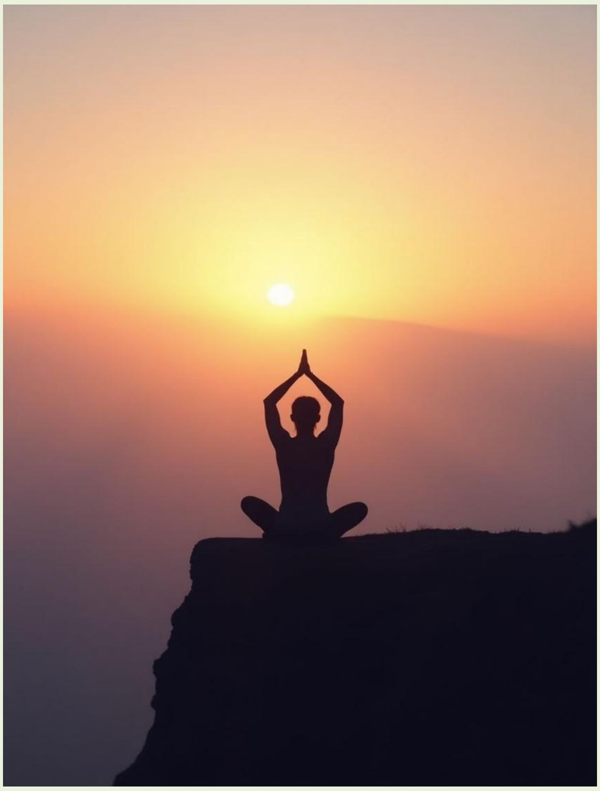

''वैदिक वाङ्मय लय के विज्ञान पर आधारित है''। लय देश-काल सापेक्ष है। प्रारम्भ और अन्त की मान्यता की तुलना में सर्ग अर्थात् सृजन और लय का सिद्धान्त अधिक वैज्ञानिक है। लय की प्रक्रिया को मानने पर ब्रह्माण्ड विज्ञान की कई समस्याएं सुलझ जाती हैं। ब्रहमाण्ड की उत्पत्ति और लय को समझना आसान हो जाता है। जब ब्रह्माण्ड किसी खास गति से फैल रहा है, तब एक समय ऐसा जरूर रहा होगा जब यह अत्यन्त सिमटा होगा।

"अणोरणीयान्" (अणु से भी अणुतर)

पृथ्वी और अन्य ग्रह अपनी धुरी पर घूमने के साथ-साथ सूर्य की परिक्रमा भी करते हैं। चंद्रमा पृथ्वी के चारों ओर घूमता है और अन्य ग्रहों के चंद्रमा उनके चारों ओर घूमते हैं। सूर्य आकाशगंगा के केंद्र के चारों ओर घूमता है। ये सभी खगोलीय पिंड एक सामंजस्यपूर्ण तरीके से अपने-अपने कक्ष में एक दूसरे के सापेक्ष वेग से चलते हैं। आकाशीय पिंडों की गति परस्पर लयबद्ध है।

एकत्व से ही देश-काल की उत्पत्ति होती है और एकत्व में ही देश-काल का लय होता है। एक समय ऐसा था जब काल भी नहीं था। अक्षर से काल की उत्पत्ति होती है:

"अक्षरात्संजायते कालः" (अथर्वशिर उपनिषत्)

"न क्षरति इति अक्षरः" जिसका क्षरण नहीं होता है, उसे अक्षर कहते हैं। "न क्षीयते इति अक्षरः" जिसका क्षय नहीं होता है, उसे अक्षर कहते हैं। अक्षर ब्रह्म है। परम अक्षर ब्रह्म देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित है:

"देशतः कालतो वस्तुतः परिच्छेदरहितं ब्रह्म। सच्चिदानन्दं स्वप्रकाशं ब्रह्म। मायातीतं गुणातीतं ब्रह्म।" (त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषत् 1)

ब्रह्म सच्चिदानन्द है। ब्रह्म स्वप्रकाश है। ब्रह्म गुणातीत है। ब्रह्म अक्षर है। अतः अक्षर स्वप्रकाश है।

"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।" (ऋग्वेद)

सांख्य दर्शन का एक सूत्र है:

"नाशः कारणलयः"

कार्य का कारण में लय हो जाना कार्य का नष्ट होना है। जैसे- घट मिट्टी का कार्य है और मिट्टी घट का कारण है। घट का मिट्टी में मिल जाना ही घट का नाश है। परन्तु कार्य के नाश से कारण का नाश नहीं होता। घट के नाश से मिट्टी का नाश नहीं होता। घट और मिट्टी का भेद वस्तुतः कार्य और कारण का भेद है। कारण और कार्य के भेद से रहित मिट्टी और घट का एकत्व स्वतः सिद्ध है।

यदि मिट्टी अपनी कारण रूप उपाधि त्याग दे और घट अपनी कार्य रूप उपाधि त्याग दे, तो मिट्टी और घट का भेद परिसमाप्त हो जाता है। भेद उपाधिगत है न कि तत्त्वगत अर्थात् भेद उपाधि के कारण है, तत्त्वतः दोनों एक ही हैं।

पृथ्वी और अन्य ग्रह अपनी धुरी पर घूमने के साथ-साथ सूर्य की परिक्रमा भी करते हैं। चंद्रमा पृथ्वी के चारों ओर घूमता है और अन्य ग्रहों के चंद्रमा उनके चारों ओर घूमते हैं।

सूर्य आकाशगंगा के केंद्र के चारों ओर घूमता है। ये सभी खगोलीय पिंड एक सामंजस्यपूर्ण तरीके से अपने-अपने कक्ष में एक दूसरे के सापेक्ष वेग से चलते हैं। आकाशीय पिंडों की गति परस्पर लयबद्ध है। प्रकृति सबसे महान संगीतकार है जो ब्रह्मांड की लयबद्ध संरचना को इस तरह से डिजाइन करती है कि वे अपने-अपने पथ का अनुसरण करते हैं, निश्चित गति और स्थिति के साथ अपनी कक्षाएँ बनाते हैं। वेदों में इसे ऋत कहा गया है। यह संगीत का विज्ञान है।

समग्रतः **सिंग्युलरिटी ऑफ एक्जिस्टेंस** से ऐसी सत्ता की विद्यमानता का साक्ष्य प्राप्त होता है जो देश और काल से परे है; जहां देश और काल की पहुँच नहीं है अथवा जहां देश-काल का लय हो जाता है जो जिसका लय स्थान है, वही उसका उत्पत्ति स्थान भी होता है। कारण-कार्य सिद्धांत के अनुसार कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है और कार्य का लय कारण में होता है।

इस प्रकार सिंग्युलरिटी ऐसा बिन्दु है जिससे देश-काल की उत्पत्ति होती है और जिसमें देश-काल का लय हो जाता है। वैदिक वाङ्मय में **108** उपनिषदों में से एक **त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्** में ब्रह्म को देश, काल और वस्तु की सीमा से रहित कहा गया है:

"देशतः कालतो वस्तुतः परिच्छेदरहितं ब्रह्म।"

लेकिन ब्लैक होल की सिंग्युलरिटी का निर्माण गुरुत्व के कारण अत्यधिक द्रव्यमान वाले तारे के विरूपण से होता है। ब्रहम तो निर्दोष और सम है-

"निर्दोषं हि समं ब्रह्म" (श्रीमद्भगवद्गीता गीता)

जबकि सिंग्युलरिटी अत्यधिक गुरुत्व के कारण देश-काल का विरूपण और वक्रण है। अलबत्ता बिग बैंग की **सिंग्युलरिटी** के कारण की गुत्थी अब तक सुलझी नहीं है। आधुनिक विज्ञान द्वारा **सिंग्युलरिटी ऑफ एक्जिस्टेंस** से **अक्षर ब्रह्म के एकत्व** तक की दूरी तय की जानी अभी शेष है।

*****

भारतीय संस्कृति की वाहक - गिरमिटिया महिलाएं

भावना सक्सैना
सहायक निदेशक (रा.भा.)
राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय

ऋतु ने करवट ली है, शीत प्रस्थान कर रही है और बसंत ऋतु धानी चुनर ओढ़े जहां स्थान मिलता है पुष्प लुटा रही है। प्रकृति में सृजन की पराकाष्ठा है, इसी विचार में डूबी हुई थी कि इसके साथ ही एक और विचार उत्पन्न हुआ कि प्रकृति और स्त्री में कितनी साम्यता है, कितनी भी कठिनाई हो, कैसी भी परिस्थिति हो, स्त्री उससे सांमजस्य व तादात्म्य बिठा ही लेती है और इस विचार के साथ याद आ गई महिलाओं की वह पीढ़ी जो वर्षों पूर्व बिना किसी साधन के बेहतर की खोज में पहुँच गई थीं। बियाबान जंगल में जहाँ उन्हें भीषण परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। मैंने अकसर उनके बारे में सोचा है कि कैसे उन्होंने उस जंगल में मंगल का सृजन किया होगा, कैसे न्यूनतम साधनों या सही कहूँ तो साधनहीनता में बसर की होगी। मैं बात कर रही हूँ उन श्रमिकों और उनके साथ गई महिलाओं की जिन्हें ब्रिटिश काल के दौरान भारत से एक करार के तहत सूरीनाम, त्रिनिदाद, मॉरीशस, साउथ अफ्रीका और फिजी ले जाया गया । इन्हीं में से एक की कहानी बताई थी सूरीनाम के श्रीमान एडीझरप ने, कि कैसे उनकी आजी(दादी) अपने साथ एक बरस भर के बालक को पेट से बांधकर लहंगे में छिपा कर गई थीं। मन उड़कर पहुँच गया हजारों मील दूर सूरीनाम व फिजी जहाँ 150 वर्ष पहले भारत से गई महिलाओं ने धान और ईख के साथ अपनी संस्कृति भी रोप दी थी। उनकी चौथी-पाँचवी पीढ़ी की कर्मठ महिलाओं से मिलने औऱ उनके संग जीने का अनुभव मेरे जीवन की अमूल्य निधि है। मॉरीशस की कई विशिष्ट महिलाओं से भारत में मिलने और बात करने का सुयोग हुआ है और यह सत्य है कि गिरमिट पर ले जाए गए श्रमिकों की स्थिति सभी देशों में कमोबेश एक सी ही थी।

ज्ञातव्य है कि गिरमिटिया प्रथा का आरंभ 1834 में दासप्रथा के उन्मूलन के बाद हुआ और 1920 के दशक तक जारी रही। इसे श्रम के अधिक मानवीय रूप में प्रचारित किया गया क्योंकि माना जाता है कि श्रमिकों ने श्रम अनुबंधों में अपनी इच्छा से प्रवेश किया था और पांच साल की अवधि के बाद वे अनुबंध से मुक्त हो सकते थे। अनुबंध में प्रवेश करने के लिए लोगों के पास अलग-अलग कारण थे। कुछ को भारत में अकाल के दौरान सफलतापूर्वक भर्ती किया गया था, दूसरों को बरगलाया गया था या मजबूर किया गया था, जबकि अन्य लोग जाति व्यवस्था से लेकर विधवापन तक की विभिन्न व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक समस्याओं से बचने के लिए हिंद महासागर को पार करने वाले जहाजों पर चढ़ गए थे। गिरमिटिया उपनिवेशों में, विभिन्न औपनिवेशिक बागानों की स्थितियाँ आदर्श नहीं थीं। कुछ भारतीय गिरमिटिया अनुबंधों की समाप्ति पर भारत लौट आए, जबकि अन्य ने फिर से अनुबंध किया, या एक बार श्रम अनुबंधों के बंधन से मुक्त होने के बाद, उपनिवेशों में रहने और अपना घर बनाने का फैसला किया। इन श्रमिकों में महिलाएँ भी थीं और उन्हीं महिलाओं ने भारत से हजारों मील दूर अलग-अलग स्थानों पर भारतीय संस्कृति को रोपकर पोषित किया।

जैसे प्रकृति कटे हुए ठूँठ से नव किसलय पल्लवित कर देती है, वैसे ही उन स्त्रियों ने भारत से

हजारों मील दूर नितांत नए परिवेश में भारतीय संस्कृति की ऐसी फसल रोपी कि वह आज भी लहलहा रही है। आज जब हम गर्व और गौरव से विश्व भर में भारतीय संस्कृति की उपस्थिति की बात करते हैं तो उसका बहुत सा श्रेय उन्हीं महिलाओं को है जो डेढ़ सौ वर्ष या उससे भी पहले विस्थापित हुईं थीं।उन महिलाओं के श्रम व संघर्ष को सूरीनाम के प्रसिद्ध कवि पंडित हरिदेव सहतू जी ने बहुत ही सरल शब्दों में खूबसूरती से पिरोया है –

के रहा उ
के रहा उ मैया
के रहा उ जौन
सबेरे तड़के उठा के
प्रार्थना के बाद
गाय बैल, मुर्गी-मुर्गा के
देखभाल करके
लड़कन के सेवा में
लग जात रहा.........
हमार नानी
हमार आजी,
सबके रानी।

के रहा उ हिम्मती मन
के रहा उ जौन
करके खेती
धान बना, बकुआ
ककाउ और भाजी के
धन दौलत कमाइ के
लड़कन के पेट भरत रहा.........
हमार नानी
हमार आजी,
सबके रानी।

के रहा उ
के रहा उ जौन

अपन बोट में लड़कन के
बैठाइके
सरमक्का-नदी में
खे-खेके
ना केवल पानी
के हलफा पे
बाकी जीवन के
के हलफा पे भी
विजय प्राप्त करिस.....
हमार नानी
हमार आजी,
सबके रानी।

के रहा उ गुरुमन
के रहा उ जौन
अपन मेहनत की कमाई से
बाप के ना रहे पे भी
अपन लड़कन के
पढ़ाई लिखाई के
समाज सेवक,
देश सेवक
धर्म –जाति रक्षक
बनाइ के
अमर होइगे.......
हमार नानी
हमार आजी,
सबके रानी।

इस कविता में उस पीढ़ी की संस्कृति का संपूर्ण चित्रण है। वह पीढ़ी जिसके कारण आज विश्व के हर कोने में भारतीय संस्कृति की छाप मिल जाती है। विदेशों में संस्कृति पर विचार करते ही सबसे पहले याद आती हैं वह छोटी-छोटी बालिकाएं जो मंदिर में अपने सर से चुनरी न सरकने देने को प्रयासरत रहती हैं। मुझे याद आता है सात समंदर पार मंदिरों में मिलने वाला प्रसाद - हलवा, मीठी रोटी और अन्य मिष्ठान। उत्सवों पर हिंदुस्तानी घरों में बनने वाले व्यंजन - कढ़ी, घुघनी, दालभरी रोटी, फुलौरी,

सेहना, मीठा भात आदि और आपसी प्रेम से मिलजुलकर ये सभी व्यंजन पकाती सरनामी हिंदी में ठिठोली करती अथवा गीत गुनगुनाती सूरीनाम की हिंदुस्तानी महिलाएँ। वे महिलाएँ जिन्होंने न सिर्फ संस्कृति को जीवित रखा अपितु अनेक कष्टों के बावजूद अपनी भावी संतति को शिक्षित किया और उन्हें अपनी सांस्कृतिक विरासत सौंपी।

फोकन मारग्रीट ने अपने शोध ''बियौंड बीईंग कुलीस एंड कंत्राकी'' में विस्तार से वर्णन किया है कि किस प्रकार बीसवीं शताब्दी के पहले दशक में महिलाएँ अपनी पहचान बनाने के लिए पुरुषों के कंधे से कंधा मिला कर चल रही थीं। एक महिला जानकी रामयाद, जो भारत से सूरीनाम पहुँचने के समय चार वर्ष की थीं,का उदाहरण देते हुए उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है किस प्रकार उन्होंने पारामारिबो में स्वयं को व्यवसाय में स्थापित किया। मॉरीशस विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र की वरिष्ठ व्याख्याता रमोला रामटहल ने भी अपने शोध में लिखा है कि "19वीं सदी के मॉरीशस कानून के अंतर्गत राज्य महिलाओं को उनके पति की अविभाज्य संपत्ति मानता था। मॉरीशस में 1808 में अपनाए गए "कोड नेपोलियन" या "नेपोलियन के 1804 के नागरिक संहिता" ने एक विवाहित महिला को "नाबालिग" का दर्जा दिया और यह गंभीर पितृसत्तात्मकता की विशेषता थी, जो महिलाओं को निजी घरेलू क्षेत्र तक सीमित रखती थी। इन प्रतिबंधों के बावजूद, महिलाएँ निष्क्रिय नहीं थीं और वे 20वीं सदी की शुरुआत के आर्थिक और राजनीतिक संघर्षों में शामिल थीं। सबसे ज्वलंत स्मृति अंजली कूपन की है, जो एक महिला श्रमिक थीं और 1943 में चीनी बागानों पर विद्रोह के दौरान मारे गए लोगों में से एक थीं।" 1

बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दिनों को याद करते हुए सूरीनाम की प्रसिद्ध शिक्षाविद श्रीमती लीला गोवर्धन-रामबोकस कहती हैं "उस समय महिलाओं का जीवन आज के समान सरल तो नहीं था। इतना खुला भी नहीं था। लड़कियों के लिए जीवन कठिन था। सूरीनाम में बीसवें दशक के आरंभिक काल में लड़कियों को शिक्षित नहीं किया गया। मेरी माँ का विवाह 1928 में और मेरी सास का विवाह 1938 में दस वर्ष की आयु में हुआ। तेरह वर्ष की आयु में उनका गौना हुआ। देखा जाए तो यह उतनी पुरानी बात भी नहीं है। 1940 तक तो विवाह का रजिस्ट्रेशन भी नहीं हुआ करता था। वर्तमान में सूरीनाम में शिक्षा प्राप्त करना जितना सरल है, उस समय ऐसा नहीं था। किंतु मेरे पिता आर्य समाजी थे और उस समय सभी आर्य समाजी व्यक्ति बालिकाओं की शिक्षा के प्रति बहुत जागरूक थे। वे संघर्ष करते थे। 2

उस पीढ़ी के संघर्षों का ही परिणाम है कि उनकी बालिकाएँ देश की अग्रणी महिलाएँ बनीं। श्रीमती लीला गोवर्धन-रामबोकस स्वयं सूरीनाम की शीर्ष महिलाओं में से हैं। वह कई वर्षों तक इंस्टिट्यूट फॉर टीचर ट्रेनिंग (आई ओ एल) में डच पाठ्यक्रम की प्रमुख रही हैं और पूर्व शिक्षा मंत्री, श्री अधीन की सलाहकार भी थीं। लीला नियमित रूप से समाचार-पत्रों के लिए समीक्षाएं लिखती हैं और आव्रजन इतिहास के बारे में भी लिखती हैं।

सूरीनाम की हिंदुस्तानी मूल की महिलाओं ने विभिन्न जातीय समुदायों के बीच रहकर न सिर्फ सूरीनाम में अपितु अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनी अलग पहचान बनाई।सूरीनाम की संसद (नैशनल असेम्बली) की पहली महिला सभानेत्री (स्पीकर) रहीं। भारतीय मूल की सुश्री मरैका इंद्रा ज्वालाप्रसाद का कहना है कि "स्त्री का कार्य सिर्फ रसोईघर तक सीमित नहीं होना चाहिए, उन्हें बाहर निकलकर अपने बृहत्तर उद्देश्य को पहचानना और पूरा करना चाहिए"- वह समाजिक समस्याओं के समाधान में महिलाओं को सक्षम मानती हैं। सुश्री मरैका इंद्रा ज्वालाप्रसाद के आजा श्री रामसरन ज्वालाप्रसाद भारत के गोंडा जिले के आदमपुर गाँव से सूरीनाम पहुँचे। अभिलेखों के अनुसार उनका कंत्राक नं. 658-MG व जाति बाभन

(ब्राह्मण) थी। उनके पुत्र श्री हरिप्रसाद तिवारी और श्रीमती केसरी ब्रह्मतिवारी की पहली संतान इंद्रा 28 दिसंबर 1951 को जन्मीं और सात भाई बहनों के साथ बड़ी तो हुईं ही, उनके पालन पोषण में अपनी माताजी को पूर्ण सहयोग दिया। आपने पारंपरिक शिक्षा में एम.ओ. अर्थात हैडमास्टर्स डिप्लोमा प्राप्त किया और उच्च स्तर तक हिंदी की शिक्षा ग्रहण की। आप हिंदी रत्न की परीक्षा नहीं दे सकीं क्योंकि उसी समय सूरीनाम के राजनेता की ओर से एक पुकार उठी और उनके हिंदी गुरुजी ने कहा – "इंद्रा मेरे लिए आप रत्न बन गई हैं अब आप सूरीनाम की नारियों के लिए रत्न बन जाओ" और इंद्रा जी ने वह कर दिखाया। सहृदय, निडर दृष्टिकोण रखने वाली और समाज की निःस्वार्थ सेवा में लगी इंद्रा जी का उन्नतमस्तक सदैव बिंदी से सुशोभित रहता है। वह इसे अपने धर्म व संस्कारों की पहचान मानती हैं, वह उनकी अस्मिता है। उनका मानना है किव्यक्ति कितना भी आगे क्यों न पहुँच जाए उसे अपने संस्कारों को नहीं भूलना चाहिए। अपने गाँव की स्कूल जाने वाली पहली कन्या इंद्रा 17 वर्ष की आयु में अध्यापिका बन गईं थीं।आपने सूरीनाम की स्वयं सेवी संस्थाओं की स्थापना में योगदान किया है और विभिन्न क्षेत्रों में अपनी कार्य-कुशलता का परिचय दिया है।

वर्तमान युग सभी देशों में भारतवंशियों के लिए स्वर्णिम युग है किंतु इसके पीछे गिरमिट के वर्षों में भोगे संघर्ष और वेदना का एक लंबा इतिहास है। सूरीनाम को अपनी कर्मभूमि बना लेने वाले हिंदुस्तानी वंशजों, चाहे वह स्त्री हों या पुरुष ने इस देश को अपने रक्त स्वेद से सींचा है। 1975 में डच शासकों से स्वतंत्रता प्राप्ति में भी उनका अमूल्य योगदान रहा है। कालांतर में मिलिटरी द्वारा किए गए आकस्मिक शासन परिवर्तन का भी उन पर प्रतिकूल प्रभाव रहा। किंतु फिर भी वह खड़े रहे, अड़े रहे और मुस्कुरा कर इकबाल की पंक्तियों को सार्थक करते रहे-

कुछ बात है कि हस्ती, मिटती नहीं हमारी। सदियों रहा है दुश्मन, दौर-ए-ज़मां हमारा।

ऐसी ही एक कहानी है अदम्य साहस व दृढ़ इच्छा शक्ति वाली; आतताइयों द्वारा विध्वंसित रेडियो स्टेशन को फीनिक्स की भांति पुनरुज्जीवित करने वाली महिला रेडियो राधिका की स्वामिनी श्रीमती रोशनी राधाकृष्ण की जो एक सहृदय, साहसी व समाज के प्रति समर्पित महिला थीं। जब मेरी उनसे मुलाकात हुई वह सतासी (87) वर्ष की थीं लेकिन उनका ध्येय हर प्रकार से हिन्दुस्तानी संस्कृति को पोषित करना व उसका प्रसार करना और ऐसा करने वालों की सहायता करना रहा। सूरीनाम के पहले हिंदुस्तानी रेडियो चैनल को स्थापित करने व सभी कठिनाइयों, राजनीतिक उठा-पटक के बावजूद सबसे पसंदीदा हिन्दुस्तानी चैनल की स्वामिनी रोशनी जी, का कहना था कि हर स्त्री के दो पति होने आवश्यक हैं पहला पति होना चाहिए उसकी शिक्षा अथवा डिग्री और दूसरा उसका जीवनसाथी ताकि मुश्किल समय में वह अपने पहले पति पर निर्भर हो सके। अपने रेडियो द्वारा उन्होंने हमेशा इस बात पर ज़ोर दिया है। एक समय था जब सूरीनाम में भी लड़कियों का शिक्षित होना, उन्हें ऊंची पढ़ाई के लिए भेजना आवश्यक नहीं समझा जाता था। रोशनी जी ने इस मानसिकता को बदलने के लिए अभिनंदनीय कार्य किया।

सूरीनाम जाने वाले अधिकांश श्रमिक पूर्वी उत्तर प्रदेश अथवा बिहार से आते थे। महिलाओं की तुलना में पुरुषों की संख्या कहीं अधिक थी तो भारत में भर्तीकर्ताओं को यह दायित्व सौंपा गया कि एक तिहाई मजदूर महिलाओं को भर्ती किया जाए ताकि सामाजिक संरचना में संतुलन रह सके। सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के कारण, महिलाओं को भर्ती करना काफी कठिन था और अरकाटियों ने अपने लक्ष्यों को पूरा करने के लिए छल का सहारा लिया। कुछ महिलाओं ने छल के कारण तो कुछ ने अपनी सामाजिक स्थिति

से बच निकलने के लिए अनुबंधों पर हस्ताक्षर किए। 1800 के दशक के मध्य में भारत में कई अकाल पड़े थे जिसके परिणामस्वरूप दरिद्रता व दीनता चरम पर थी। कठिनाई से बचने और अपने और अपने परिवार दोनों के लिए वित्तीय संसाधन प्राप्त करने के लिए कुछ महिलाओं ने इसे पितृसत्तात्मक प्रथाओं से दूर जाकर एक नया जीवन जीने के अवसर के रूप में देखा। अभिलेखों की जांच से पता लगता है कि दो-तिहाई से अधिक महिलाएं अकेली या विधवा थीं।

1974 में ब्रिटिश इतिहासकार ह्यूग टिंकर ने तर्क दिया था कि अनुबंधित श्रम की प्रणाली गुलामी की एक नई प्रणाली थी। किंतु आर्थिक इतिहासकार पी.सी. एमर, जिनका उद्देश्य भर्ती, अनुबंध और बंदोबस्त की परिस्थितियों का पुनर्मूल्यांकन करना था, ने आधिकारिक डच और ब्रिटिश औपनिवेशिक रिपोर्टों पर आधारित गणनाओं पर अपने तर्कों की नींव रखी। एमर ने दावा किया कि भर्ती प्रक्रिया निष्पक्ष थी और आप्रवासियों ने प्रवास करने का जानबूझकर विकल्प चुना था। उन्होंने तर्क दिया कि महिलाओं को एहसास हुआ कि सूरीनाम में उनके पास बेहतर अवसर होंगे3। सामाजिक इतिहासकार रोज़मेरीन होफ़्टे ने इन तर्कों का जवाब "आर्थिक, नस्लीय और यौन उत्पीड़न के विभिन्न रूपों की ओर इशारा करते हुए दिया, जिसका सामना हिंदुस्तानी महिलाओं ने प्रवास, अनुबंध और बस्तियों में अलग-अलग समय पर किया।

वस्तु स्थिति जो भी रही हो वास्तविकता यह है कि एक बार जब भारतीय महिलाएं अपने नए परिवेश में बस गईं, तो उन्होंने वृक्षारोपण पर काम करना शुरू कर दिया और नए सामाजिक परिदृश्य के भीतर खुद को संगठित करना शुरू कर दिया। अधिकांश महिलाओं को अक्सर पुरुषों के समान ही श्रम करना पड़ता था - गन्ने को कटलस से काटने से लेकर, रोपण के लिए भूमि तैयार करने और गन्ने के तनों की सफाई और छँटाई करने तक। सिर्फ सूरीनाम में ही नहीं यह स्थिति फीजी, मॉरिशस तथा अन्य स्थानों पर भी समान थी। अन्य महिलाएँ सामुदायिक आवास क्वार्टरों में काम करती थीं। यहां, वे भोजन पकाती थीं, आवासों की देखभाल करती थीं और अपने समुदाय के बच्चों की देखभाल करती थीं।

नीदरलैंड में बसी लेखिका सिंथिया मैक्लोड ने सूरीनाम के मारियनबर्ग प्लान्टेशन पर हुए संपूर्ण घटनाक्रम को दर्ज करते हुए डच भाषा में एक ऐतिहासिक उपन्यास लिखा है जिसका अंग्रेजी अनुवाद ''इट हैप्पेनड इन मैरियनबर्ग'' भी उपलब्ध है। रोचक शैली में लिखा यह उपन्यास घटनाक्रम को इस प्रकार प्रस्तुत करता है, मानो सब सामने घटित हो रहा हो।वास्तविक ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित यह उपन्यास एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है। यह दर्शाता है कि संस्कृति के वाहक के रूप में हिंदुस्तानी गिरमिटिया महिलाओं की यात्रा आसान नहीं थी, जिन परिस्थितियों में उन्होंने यह यात्रा की वह तो पीड़दायक थी। भारतीय समाज की पितृसत्तात्मक प्रकृति के कारण भी उनका अपनी पहचान को बनाए रखना आसान नहीं था। इन महिलाओं की आवाज़ उन ऐतिहासिक दस्तावेज़ों में भी कम ही सुनी गई है जिनमें साक्षर लोगों के बयान और प्रभावशाली लोगों के विचार दर्ज हैं।

पिछले कुछ वर्षों में सूरीनाम और नीदरलैंड में हिंदुस्तानी इतिहासकारों, कार्यकर्ताओं, लेखकों, कवियों, टेलीविजन निर्माताओं, पत्रकारों और अन्य लोगों ने गिरमिट और प्रवास के इतिहास का पुनः अध्ययन आरंभ किया है और उसके नए रंग प्रस्तुत किए हैं। इसी क्रम में संस्था ओएचएम ने ''जैनी तेतारी'' की कथा का फिल्मांकन किया।साहस और बलिदान की इस गाथा में सूरीनाम में गिरमिटिया मजदूरों पर हुई हिंसा और शोषण को दर्शाया गया है। कथा एक मुस्लिम महिला गिरमिटिया मजदूर जैनी तेतारी के ऐतिहासिक चरित्र के इर्द-गिर्द केंद्रित है, जिसने 1884 में चीनी बागान जॉर्ग एन हूप में प्रतिरोध

में भाग लिया था। सूरीनाम में हिंदुस्तानी गिरमिटिया के इतिहास के इस पुनर्कथन में तेतारी को केंद्र बनाकर, इतिहासकार राजिंदर भगवानबली ने दिखाया कि महिलाओं ने भी प्रतिरोध में भाग लिया था। सितंबर 2017 में, पारामारिबो में तेतारी की एक प्रतिमा स्थापित की गई।

इसी तरह महिलाओं पर हुए अत्याचार और उनके द्वारा साहस से उसका सामना और प्रतिरोध किए जाने का एक ज्वलंत उदाहरण है फिजी की कुंती, जिसके साहस ने महिलाओं पर हो रहे अत्याचार की ओर अधिकारियों का ध्यानाकर्षित किया। पंडित तोताराम सनाढय ने अपनी पुस्तक ''फिजी द्वीप में मेरे 21 वर्ष'' में कुंती की गाथा लिख उसे भारत तक पहुँचाया। वह लिखते हैं - आरकटियों ने कुंती और उसके पति को लखुआपुर जिला गोरखपुर से बहका कर फिजी को भेज दिया था। इन लोगों को वहाँ बड़े-बड़े कष्ट सहने पड़े। इस समय कुंती की अवस्था 20 वर्ष की थी।

बड़ी कठिनाईयों से कुंती 4 वर्ष तक अपने सतीत्व की रक्षा कर सकी। तदनंतर सरदार और ओवरसियर उसके सतीत्व को नष्ट करने के लिए सिरतोड़ कोशिश करने लगे। 10 अप्रैल, 1912 को ओवरसियर ने कुंती को साबू केरे नामक केले के खेत मे सब स्त्रियों और पुरुषों से पृथक घास काटने का काम दिया, जहाँ कोई गवाह न मिल सके और चिल्लाने पर भी कोई न सुन सके। वहाँ उसके साथ पाशविक अत्याचार करने के लिए सरदार और ओवरसियर पहुँचे। सरदार ने ओवरसियर के धमकाने पर कुंती का हाथ पकड़ना चाहा। कुंती हाथ छुड़ा कर भागी और पास की नदी में कूद पड़ी लेकिन दैव-संयोग से जयदेव नामक एक लड़के की डोंगी पास में ही थी। कुंती डूबते-डूबते बची। जयदेव ने उसे डोंगी पर चढ़ाकर पार किया। जब कुंती ने यह बात अपने कोठीवाले गोरे स्वामी से कही तो उसने जबाब दिया "चलो जाओ खेत का बात हम सुनना नहीं माँगता।" तत्पश्चात 13 अप्रैल तक कुंती काम पर न गयी। 14 अप्रैल को 20 जरीब घास उसे खोदने को दी गयी और उसके पति को एक मील की दूरी पर काम दिया गया, कुंती के पति को भी इतना पीटा गया की वह भी अधमरा हो गया! कुंती ने यह समाचार किसी से लिखवा कर 'भारत मित्र' में छपवा दिया, भारत सरकार की उस पर दृष्टि पड़ी और कुंती के मामले की जाँच फिजी में करायी गयी। इमिग्रेशन अफसर वहाँ पहुँचा और कुंती को बहुत धमकाया। पर कुंती ने यही कहा कि जो कुछ मैंने 'भारत मित्र' में छपवाया था, बिलकुल ठीक था। यहाँ पर कुंती के धैर्य और साहस की जितनी प्रशंसा की जाए थोड़ी है। नदी में कूद कर सने अपने सतीत्व की रक्षा की और पराधीन होने पर भी उसने इमिग्रेशन अफसर की फटकार बताई।

चूँकि अनुबंध प्रणाली में महिलाएँ अल्पसंख्यक थीं, महिलाओं का यौन शोषण आम बात थी। सिर्फ यही नहीं उनसे अमानवीय व्यवहार भी किया जाता इसका एक और उदाहरण फिजी से ही है -नारायणी नाम की एक स्त्री नादी जिला की नावो नामक कोठी में काम करती थी। इसके एक बच्चो का जन्म हुआ जो कि मर गया। बच्चे के जन्म के दो-तीन दिन बाद ही ओवरसियर ने चाहा की वह काम पर चले, यद्यपि सरकारी नियम के अनुसार बच्चा पैदा होने पर तीन महीने तक कोई स्त्री काम पर नहीं जा सकती। पर गोरा ओवरसियर भला ऐसे नियमों को क्यों मानने लगा! नारायणी ने कहा "मेरा बच्चा मर गया है, मैं काम पर न जाऊँगी। इस पर उस ओवरसियर ने इतना पीटा कि वह एकदम बेहोश हो कर गिर पड़ी। पुलिस के गोरे सब-इंस्पेक्टर ने आ कर जाँच की और उस स्त्री को अस्पताल पहुँचाया। ओवरसियर गिरफ़्तार किया गया। सुवा नगर की बड़ी अदालत तक यह अभियोग पहुँचा। जब सुवा में यह स्त्री उतारी गयी तो उसमें इतनी भी शक्ति नहीं थी कि एक फर्लांग भी पैदल चल सके। इसीलिए कचहरी तक खाट पर रख कर लायी गयी थी। अभियोग के

अंत में वह गोरा ओवरसियर निरपराध हो कर छूट गया। उस बेचारी पर इतनी मार पड़ी थी कि उसका मस्तिष्क खराब गया था, वह अभी तक पागल सी रहती है।

ऐसे अनेक उदाहरण है, हर उस देश से जहाँ महिलाएँ अनुबंध श्रमिकों के रूप में पहुँची, लेकिन एक बात जो इन सबमें रही वह है उनकी जिजीविषा और दृढ़ इच्छाशक्ति। 19वीं सदी के प्रवासकाल में भारतीय महिलाओं द्वारा अतुल्य भूमिका निभाई गई जिसने ब्रिटिश और डच साम्राज्यों के कई पूर्व उपनिवेशों को बदल दिया। संभवतः इतिहासकारों द्वारा उन्हें उतना महत्व नहीं दिया गया जितना अपेक्षित है। भारतीय गिरमिटिया महिलाओं को आश्रितों और जीवनसाथी के रूप में, प्रवास के लिए अनिच्छुक और नगण्य श्रम मूल्य वाली, या संदिग्ध गुणों वाली अकेली महिलाओं के रूप में चित्रित किया गया। इसका मुख्य कारण यही है कि वह वर्णन उस समय के यूरोपीय अधिकारियों व लेखकों द्वारा किया गया और बाद के इतिहासकारों द्वारा दोहराया गया।

गिरमिट में महिलाओं की भूमिका प्रमुख थी। वह वहाँ भी परिवार या समाज की रीढ़ बनीं। भारतीय संस्कृति विभिन्न धर्मों, जातियों में प्रचलित रीति-रिवाजों, त्योहारों, भोजन, पहनावे, भाषा की विस्तृत श्रृंखला के साथ सबसे विविध संस्कृतियों में से एक है। गिरमिट पर गई भारतवंशी महिलाओं ने,चाहे वे किसी भी धर्म, जाति या वर्ग की रही हों, संस्कृति के विभिन्न तत्वो को बनाए रखने में अग्रणी भूमिका निभाई। नई भूमि पर भी उहोंने विवाह, जन्म, मृत्यु या किसी भी धार्मिक अवसर के रीति-रिवाजों का पालन सटीकता और बिना चूक के किया और इन रीति-रिवाजों का पालन केवल स्वयं ही नहीं किया, बल्कि परिवार के अन्य सदस्यों को भी इसका पालन करने के लिए प्रेरित किया। संस्कृति और धर्म के महत्व की पुष्टि के लिए गोद भराई, मृत्यु संस्कार, विवाह समारोह और पूजा या हवन जैसे अनुष्ठान आयोजित किए। सामाजिक कार्यक्रमों में गाए जाने वाले पारंपरिक लोक गीत, पारंपरिक नृत्यों को भी नई भूमि पर रोपा। यही कारण है कि आज भी सूरीनाम, फिजी, मॉरीशस दक्षिण अफ्रीका का हिंदुस्तानी समाज, भारतीय समाज की प्रतिकृति है।

आज उन सभी गिरमिटिया महिलाओं की चौथी पाँचवी पीढ़ी सफल व्यावसायिक है, शिक्षक है, राजनेता है, जीवन के हर पहलू में अपना योगदान दे रही है। अपनी भूमिका के साथ-साथ परिवार संभालती है, ऐसे व्यवसायों में अपना रास्ता बनाती है जिन्हें हमेशा से ही पुरुष प्रधान माना जाता रहा है और माना जाता रहेगा - सबसे बढ़कर वे सच्ची हिम्मत, दृढ़ संकल्प और सफल करियर को दैनिक जीवन के चुनौतीपूर्ण पहलुओं के साथ संतुलित करने की क्षमता लिए विश्व में अपना लोहा मनवा रही हैं।

संदर्भ -

डिआस्पोरा एंड डेवलेपमेंट: द केस ऑफ मॉरीशस, रामोला रामतोहुल, पृष्ठ 828-838

विश्व हिंदी पत्रिका 2023-विश्व हिंदी सचिवालय, मॉरीशस, पृष्ठ 147

मारग्रेट फोकन-बियांड बीइंग कोलिज़ एंड कनट्राकी कंस्ट्रक्टिंग हिंदोस्तानी आइडेंटिटीज़ इन सूरीनाम इन द इरा ऑफ इनडेंचर, 1873-1921-जुलाई 17, 2018, पृष्ठ 29

खरा, एन. के., एंड सत्पथी, बी. (2022), रोल ऑफ वुमेन इन प्रिजर्विंग इंडियन कल्चर एंड आइडेंटिटी इन डिआस्पोरा, रिसर्च रिव्यू इंटरनेशनल जर्नल ऑफ मल्टीडिस्प्लीनरी, 7 (9), 74-80।

लाल बृज. वी., कुंती क्राई: इन्डेन्चर्ड वीमन आन फिजी प्लानटेशन्स', इंडियन इकोनोमिक एंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू, वॉल्यूम 22, सं. 1 (1985): 57-8

पंडित तोताराम सनाढय, फिजी द्वीप में मेरे वर्ष 21, 1976, पृष्ठ 21

भावना सक्सैना – सूरीनाम में हिंदुस्तानी भाषा साहित्य और संस्कृति, 2012

*****

विविधता का उत्सव है संस्कृति

डॉ. वेदप्रकाश
असिस्टेंट प्रोफेसर
हिंदी विभाग, किरोड़ीमल कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

भाषा, भोजन, भेष, रहन-सहन और पर्व-उत्सव आदि मिलकर संस्कृति को आकार देते हैं। संस्कृति किसी भी व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र की संजीवनी होती है। उत्सवप्रियता मनुष्य की मूल प्रवृत्ति कही जा सकती है। यही वह आधार है जिस पर क्षेत्रीय, प्रादेशिक, राष्ट्रीय और वैश्विक संस्कृति में समन्वय के सूत्र मिलते हैं। भारतीय संस्कृति की रुपरेखा पर विस्तार से विचार करते हुए बाबू गुलाब राय ने लिखा है कि- भारत का संपर्क एशिया के देशों से ही नहीं रहा वरन् यूरोप के देशों से भी रहा है। भारत का मानवता का संदेश बौद्ध प्रचारकों द्वारा विभिन्न देशों में पहुंचा। भारत के व्यापारियों ने दुनिया के बाजारों में विस्तार किया और भारत के साहित्य, दर्शन, विज्ञान और संस्कृति आदि का प्रभाव विश्व व्यापी बना [(1)]। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि भारतीय संस्कृति का विश्व की संस्कृति पर व्यापक प्रभाव है। भारत में होली, दीपावली, गोवर्धन पूजा, मकर संक्रांति, रक्षाबंधन, विजयदशमी, जन्माष्टमी एवं रामनवमी आदि पर्व उत्सव प्रमुख हैं। यहां अनेक अवसरों पर देवी-देवताओं की शोभा यात्राएं निकाली जाती हैं, जिनमें स्थानीय लोग और अनेक देशों के नागरिक भाग लेते हैं।

सामान्यतः संस्कृति की अवधारणा को दो रूपों में विश्लेषित किया जाता है- बाह्य पक्ष एवं आंतरिक पक्ष। बाह्य पक्ष में रहन-सहन,वेशभूषा एवं मंगल वस्तुओं के साथ-साथ वे सभी बातें सम्मिलित हैं जिनको देखने से भारतीयता अथवा संस्कृति का बोध जागृत होता है, इसी प्रकार दूसरा आंतरिक पक्ष है, जिसमें आध्यात्मिकता, स्वर्ग नरक का विचार, समन्वय की अवधारणा, शुद्धता, सत्य, अहिंसा, करुणा, मैत्री, विनय, प्रकृति प्रेम, उत्सवप्रियता आदि का समावेश किया जाता है। ये सभी बातें आंतरिक हैं जो भिन्न-भिन्न रूपों में एक दूसरे के साथ जुड़ती हैं। कुछ लोग भारतीय संस्कृति को संस्कृतियों का सम्मिश्रण भी कहते हैं, यह सत्य है, क्योंकि भारत में सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं भौगोलिक विविधता है। यहां आरंभ में वर्ण व्यवस्था रही तदनंतर जाति और संप्रदायों में भी भारत की विविधता ने विस्तार पाया। इसलिए हमारी संस्कृति भी देशी-विदेशी भाषा-बोली, रहन-सहन एवं आचार- विचार के जीवन दर्शन एवं मान्यताओं का समन्वय करती है। लंबे समय तक विदेशी शासन रहने से उन शासकों की संस्कृति भी यहां सामान्यतः देखी जा सकती है। भारतीय संस्कृति का विश्लेषण करते हुए श्याम चंद्र कपूर ने लिखा है- "यह संस्कृति सब को सुखी, सब को निरोग, सबको आनंदित देखना चाहती है। यह वसुधा को ही कुटुंब मानकर चलती है, यह सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय के विचार से व्यापक होती है। यह सब देवों में एक देवाधिदेव के दर्शन करती है[(2)]।" श्वेताश्वतरोपनिषद् कहता है-

"एको देव: सर्वभूतेषु गूढ:

सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा [(3)]।"

अर्थात वह एक देव ही सब प्राणियों में छिपा हुआ सर्वव्यापी और समस्त प्राणियों का अंतर्यामी परमात्मा है। इसी प्रकार वेद और उपनिषद भी स्पष्ट करते हैं कि-

"ईशा वास्यमिदं सर्वं...[4] ।" अर्थात् यह संपूर्ण जगत ईश्वर से व्याप्त है। ईश्वर को साथ रखते हुए त्यागपूर्वक इसका उपभोग करो।

भारतीय ज्ञान की व्यापक परंपरा जीव- जगत की विराटता को समझते-समझाते हुए अनेक मंत्र एवं सूत्र प्रदान करती रही है। विश्व के आदि ग्रंथ वेदों में नाना विषयों का उद्घाटन मिलता है तो प्रवृत्ति उपनिषद, स्मृति, रामायण और भगवद्गीता जैसे अनेक ग्रंथ मानवता के कल्याण के साथ-साथ संपूर्ण चराचर की भी चिंता करते हैं। इसलिए वह उद्घोष करते हैं-

"सर्वे भवंतु सुखिनः सर्वे संतु निरामया:...[5] ।" अर्थात् सब सुखी हों, सब निरोग रहें, सब अच्छी घटनाओं को देखने वाले (साक्षी) रहें और कभी किसी को दुख का भागी न बनना पड़े।

पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण ये चारों दिशाएं भारत का प्रतिनिधित्व करती हैं और इन चारों दिशाओं में सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं भौगोलिक विविधता है। जब हम इन विविधताओं का दर्शन करते हैं तो गर्व की अनुभूति होती है, क्योंकि ऐसे विविधता अन्य किसी देश में नहीं है। यह भारतवर्ष ही ऐसा देश है जहां इन विविधताओं का उत्सव मनाया जाता है। हर दिन कहीं न कहीं उत्सव चलते ही रहते हैं। यही कारण है कि अनेक संकटों अथवा कठिन समय में भी यहां जीवन चलता रहता है। स्वामी विवेकानंद ने भारतीय संस्कृति, वेद उपनिषद एवं भारत के विचार को विस्तार से देश-विदेश में प्रचारित किया। अपनी आत्मकथा में उन्होंने लिखा है- भारत में भी, प्राचीन या आधुनिक काल में, विरोधी संप्रदाय भले ही विद्यमान हों, ये सभी उपनिषद या वेदांत रूप प्रमाणों पर ही प्रतिष्ठित हैं। सभी भारतीय संप्रदायों को उपनिषद के प्रमाण मानकर चलना चाहिए ...उपनिषद के मंत्रों में गूढ़ रूप से जो समन्वय भाव विद्यमान है, अब उसकी व्याख्या और प्रचार जरूरी है। द्वैतवादी, विशिष्टा द्वैतवादी, अद्वैतवादी आदि संप्रदायों में जो समन्वय मौजूद है, वह जगत को स्पष्ट भाव से दिखाना होगा। उन्होंने यह भी लिखा है कि- भारत दीर्घकाल से यंत्रणा सहता आया है। सनातन धर्म पर पर्याप्त समय से अत्याचार हुआ है। लेकिन प्रभु दयामय हैं... केवल श्रीराम-कृष्ण देव के चरण तले बैठकर शिक्षा ग्रहण करने से ही भारत का उत्थान होगा। उनके जीवन, उनके उपदेशों का चारों तरफ प्रचार करना होगा, ताकि हिंदू समाज के सर्वांश, प्रति अणु-परमाणु में ये उपदेश ओत-प्रोत भाव से फैल जाएं। मेरे गुरुदेव कहा करते थे- हिंदू- ईसाई वगैरह विभिन्न नाम भर हैं। इंसान इंसान में परस्पर भ्रातृभाव ही विशेष बंधन हो जाता है। पहले यही सब सोचने-विचारने की कोशिश करनी होगी।

संस्कृति एक ऐसी संकल्पना है जो सभी को जोड़ती है। इसमें कहीं भी भेद दृष्टि नहीं है, यह तो अपने विविध रूपों में एकत्व और बंधुता का ही प्रसार करती है। यह एक ऐसी जीवनधारा है जिसका लोप होने से जीवन का लोप और जिसके समाप्त होने से जीवन की समाप्ति निश्चित है। भारतीय संस्कृति संस्कार स्वरूप निरंतर बहती अथवा चलती रहती है, इसका आदि एवं मध्य नहीं है। सृष्टि के आरंभ से ही भिन्न-भिन्न रूपों में यह भी आकर लेती चली गई, यही कारण है कि हमारी संस्कृति में नदी, झील, झरने, पर्वत,पेड़-पौधे,पशु-पक्षी, धरती और आकाश सभी के वंदन का संदेश है।

हाल ही में परमार्थ निकेतन ऋषिकेश के अध्यक्ष **स्वामी चिदानंद सरस्वती** जी ने महाकुंभ विषयक अपने एक लेख में लिखा है कि-"कुंभ मेला केवल एक धार्मिक आयोजन या स्नान पर्व नहीं बल्कि समाज सुधार, सामाजिक समरसता और आध्यात्मिक उन्नति का महत्वपूर्ण मंच है। कुंभ मेला भारतीय संस्कृति की धरोहर है जो प्रत्येक पीढ़ी को अपनी जड़ों से जुड़ने का अवसर प्रदान करता है... सनातन धर्म ऐसी दिव्य परंपरा है जो कालांतर से आस्था और मानवता के सर्वोत्तम आदर्श को संगठित करती आ

रही है...कुंभ मेला भारतीय समाज में व्याप्त शुद्धता, सनातनता, भाईचारे और दिव्यता के संदेश को प्रसारित करता है। कुंभ मेला न केवल व्यक्तिगत आस्था बल्कि सामाजिक एकता का भी प्रतीक है। यहां सभी धर्म, जाति, वर्ग और समुदायों के लोग एकत्र होते हैं। इस एकता में न केवल सामाजिक समरसता की भावना होती है बल्कि यहां भारतीय संस्कृति के मूल्यों की भी अभिव्यक्ति होती है(6)। भारतीय जीवन और संस्कृति का मूल अध्यात्म है। यहां भौतिकता को केंद्र में रखकर जीवन की संकल्पना नहीं है अपितु अध्यात्म को केंद्र में रखकर समस्त व्यवस्थाओं का चिंतन है। जैसे-जैसे ज्ञान-विज्ञान, सूचना तकनीक बढ़ रही है वैसे-वैसे संस्कृति के स्वरूप में भी परिवर्तन आ रहे हैं। हमें यह ध्यान रखना होगा कि उन परिवर्तनों में से हम किन्हें स्वीकार करें और किन्हें अस्वीकार करें। मेरा अभिप्राय यह है कि हम सबसे पहले अपनी संस्कृति का सम्मान करना सीखें और उसे वैज्ञानिक और जीवन की सही समझ की संस्कृति के रूप में जानकर आत्मसात करें। आज अनेक अवसरों पर देखने में यह आता है कि हम विदेशी खान-पान, रहन-सहन, भाषा आदि के प्रति बहुत जल्दी मोहित हो जाते हैं और उसे ही सर्वश्रेष्ठ मानकर चलने लगते हैं जबकि यदि हम गंभीरता से देखें तो हमारी संस्कृति में भी अनेक अमूल्य निधियां हैं जो किसी दूसरी संस्कृति में नहीं हैं। महर्षि अरविंद ने अपनी "भारतीय संस्कृति के आधार" नामक पुस्तक में लिखा है कि- "भारत को अपनी रक्षा करनी होगी और इसके लिए उसे अपने सांस्कृतिक विधि-विधानों का इस प्रकार नया निर्माण करना होगा कि वह उसके प्राचीन आदर्श को अधिक तेजस्वी, अधिक घनिष्ठ एवं पूर्ण रूप में प्रकट करें(7)।" भारतवर्ष के अनेक विद्वान, चिंतक एवं संत ऐसे हुए हैं जिन्होंने देश दुनिया की अनेक यात्राएं कीं और विदेशी जीवन को भी बहुत करीब से देखा।

अपने व्यापक अनुभवों के आधार पर उन्होंने भारतीय संस्कृति को सर्वश्रेष्ठ पाया। "मेरे सपनों का भारत" नामक पुस्तक में गांधी जी ने लिखा है- "पहले हम अपनी संस्कृति का सम्मान करना सीखें और उसे आत्मसात करें। दूसरी संस्कृतियों के सम्मान की, उनकी विशेषताओं को समझने और स्वीकार करने की बात उसके बाद ही आ सकती है, उसके पहले कभी नहीं। मेरी यह दृढ़ मान्यता है कि हमारी संस्कृति में जैसी मूल्यवान निधियां हैं वैसी किसी दूसरी संस्कृति में नहीं हैं(8) ।"

आज भारत तमाम बाधाओं को पार करते हुए नए रंग- रूप में, नए संकल्पों के साथ आगे बढ़ रहा है। सबका साथ, सबका विकास, सबका विश्वास और सबके प्रयास से यह पुरातन और जीवंत राष्ट्र नए-नए कीर्तिमान स्थापित कर रहा है, तब यह आवश्यक है कि हम विविधताओं का सम्मान करें, विभिन्न संस्कृतियों की उत्सवमयी संकल्पना पर गर्व महसूस करें, हम सभी एक रहें, नेक रहें। मेरा क्या और मुझे क्या कि संकीर्ण मानसिकता से हटकर हम भारत के हैं और भारत हमारा है, हमारी विविधतामयी संस्कृति से यह भाव हमें ग्रहण करना चाहिए।

संदर्भ सूची-

1. भारतीय संस्कृति की रूपरेखा- बाबू गुलाब राय, पृष्ठ 169
2. भारतीय संस्कृति दिग्दर्शन- श्याम चंद्र कपूर, भूमिका से
3. श्वेताश्वेतरोपनिषद
4. ईशावास्योपनिषद
5. विवेकानंद की आत्मकथा- पृष्ठ 281-282
6. दैनिक जागरण- 7 जनवरी 2025
7. भारतीय संस्कृति के आधार- श्रीअरविंद, पृष्ठ 148
8. मेरे सपनों का भारत- गांधी जी, पृष्ठ 194

*****

चटक रंगों से सजी बूंदी की अनूठी चित्रकला

डॉ ज्योत्स्ना शर्मा
संस्कृति मंत्रालय
भारत सरकार

वैसे तो राजस्थान भारत के सबसे खूबसूरत राज्यों में से एक है परंतु पर्यटकों की दृष्टि में सबसे अधिक पसंद किए जाने वाला राज्य भी है। साथ ही भारत ही नहीं पूरे विश्व में सर्वाधिक लोकप्रियता भी इसी राज्य को प्राप्त है। कोई विरला ही ऐसा होगा जिसने रंग रंगीले राजस्थान के बाटी-चूरमा का स्वाद नहीं चखा हो या घूमर और कालबेलिया नृत्य का आनंद नहीं लिया होगा। अपने महलों और किलों की स्थापत्य कला और विरासत से भारतीयों के साथ साथ विदेशी पर्यटकों को भी मंत्रमुग्ध करने वाला राजस्थान राज्य बाँधनी, चुनरी और बंधेज के चमकीले रंगों से सबके मन पर राज करता है। वर्षभर यहाँ लोग सभी उत्सवों, तीज-त्योहारों को बड़े ही उत्साह से मनाते हैं। देश विदेश से लोग पुष्कर, बीकानेर, जैसलमर में आयोजित ऊँट दौड़ और अन्य उत्सवों को देखने आते हैं। सबसे उल्लेखनीय उत्सव "गणगौर" है, जिसमें स्त्रियाँ पूरी श्रद्धा के साथ 18 दिन महादेव और पार्वती माता की मिट्टी से निर्मित मूर्तियों की पूजा अर्चना करती हैं और उसके बाद भव्य शोभा यात्रा के साथ उन विग्रहों को ससम्मान विसर्जित कर दिया जाता है। पूरा राजस्थान असाधारण और अभूतपूर्व सांस्कृतिक विरासत से संपन्न है। राजस्थान अपने हस्तशिल्प और कला के माध्यम से अपनी सांस्कृतिक विरासत को संजोये हुए है। इसका प्रत्यक्ष अनुभव वहाँ के किलों, महलों और हवेलियों पर तराशी गईं चित्रकलाओं से होता है।

राजस्थान की चित्रकला शैली का मेवाड़, बूंदी, कोटा, जयपुर, बीकानेर, किशन गढ़, जोधपुर (मेवाड़), मालवा, सिरोही में विकास हुआ। इसी क्रम में बूँदी स्कूल ऑफ पेंटिंग जो भारतीय लघु चित्र कला की सबसे लोकप्रिय राजस्थानी शैली में एक माना जाता है। बूँदी कला की शुरुआत सत्रहवीं शताब्दी में बून्दी रियासत से मानी जाती है। यह चित्र कला उस समय के सामाजिक जीवन और राजनीतिक पक्ष को समझने में बहुत मदद करती है। यह चित्र कला मुख्य रूप से राव छत्रसाल, भाओ सिंह, उमेद सिंह और भीषण सिंह के समय में विकसित हुई।

(बूंदी का किला – लेखिका द्वारा लिया गया छाया चित्र)

https://www.incredibleindia.gov.in/en/rajastan/bundi/chitrashala

बूंदी किले के भीतर बनी चित्रशाला अपने आप में अनगिनत कहानियों को समेटे हुए है। उस चित्रशाला में राग-रागिनी, बारहमासा, राधा-कृष्ण, वन की प्राकृतिक छटा समेटे छवियाँ, राग माला, कृष्ण लीलाएँ, झरोखे से इंतज़ार करती रानियाँ, हाथियों की लड़ाई, गोवर्धन पर्वत उठाए श्री कृष्ण, पेड़ों तले बाँसुरी बजाते कन्हैया, मेघ, अपना रूप निहारती रानियाँ, अश्व पर आता नायक, युद्ध और पौराणिक कथाओं को प्रमुख रूप से चित्रांकित किया गया है। दीवारों और छतों पर फूल-पत्तियां, बेल बूटों को बख़ूबी उकेरा गया है। बूँदी चित्रकला शैली की विशेषता है इसमें प्रयोग किए जाने वाले रंग। लघु चित्रों की सम्पूर्ण श्रृंखला में अत्यधिक चमकीले रंगों का प्रयोग किया गया है। मुख्य रूप से बूँदी के लघु चित्रों में नीले, हरे, काले और लाल रंग की प्रमुखता देखने को मिलती है। चित्रों को बनाने के लिए सब्ज़ियों नील, शंख, कहीं कहीं शुद्ध सोने और चाँदी का इस्तेमाल किया गया है। ये सभी चित्र कला हस्तनिर्मित हैं जिन्हें बड़ी ही बारीकी से उकेरा गया है।

इन सभी चित्र कलाओं में रानियों का चित्रण बड़े ही अनूठे ढंग से किया गया है। इन चित्रों में रानियाँ और उनके साथ अन्य सखियों की कमर को संकीर्ण दिखाया गया है। पारभासी ओढ़नी से नुकीली नाक झुकी हुई ठुड्डी, हल्की गोलाई के साथ लंबी नुकीली आंखें स्पष्ट नज़र आती है। चित्रकार ने हर चित्र कला में आम, पीपल, केले, फूलदार लताओं पक्षियों, जानवरों और बगीचों को बड़े ही सुंदर रंग संयोजन के साथ प्रस्तुत किया है। इसी के साथ साथ संगीत के रागों को चित्र कला से जोड़ने का विचार अपने आप में अद्भुत है इसमें मुख्य रूप से छह रागों को सम्मिलित किया गया है जो इस प्रकार है राग भैरवी, राग मालकौंसा, राग दीपक, राग श्री, राग हिंडोला और राग मेघ। मनुष्य जीवन के चार चरण

यथा बचपन, युवावस्था, अधेड़ और बुढ़ापे को वर्ष की चार ऋतुओं से इंगित किया है अर्थात वसंत, ग्रीष्म, शरद और सर्दी का मौसम है।

हमें अपने कौशल को ऐसे ही लुप्त होने के लिए छोड़ देना चाहिए। क्या कोई ऐसी तरकीब नहीं जिससे हम अपने कौशल को और कला को सहेज सकें और इसे

आज के समय में यह कला कुछ चुनौतियों का सामना कर रही है। इस कला के जानकार न के बराबर हैं। आज मुट्ठी भर कलाकार पुराने पोस्ट कार्ड, रेशम से निर्मित वस्त्रों, लकड़ी के फ्रेम आदि पर इस शैली को जीवित रखने का प्रयास कर रहे हैं। तेज़ी से बदलती जीवनशैली और उच्च जीवन स्तर की लालसा में आज की युवा पीढ़ी अपने पारंपरिक शिल्प और कला को सीखने में कोई रुचि नहीं रखती है और रोज़गार के अन्य अवसरों की ओर उनका झुकाव बढ़ता जा रहा है। बतौर कलाकार उनकी आमदनी काफ़ी कम होती है जिससे गुज़र करना मुश्किल है। कलाकारों की बात तार्किक प्रतीत होती है परंतु क्या

सुरक्षित रख सकें। इन समस्याओं का एक उपाय हो सकता है वह यह कि इस प्रकार के चित्र कला शैलियों को स्कूल पाठ्यक्रम का एक अंग बना दिया जाए जिससे सभी बच्चे अपने राज्य विशेष की कला संस्कृति को जान और समझ सकें साथ ही उनके कौशल का विकास भी हो। ऐसे सभी कलाकारों को समय समय पर प्रशिक्षण संस्थानों में आमंत्रित किया जाए जो कला को जीवित रखने का एक सुखद अवसर भी प्रदान करेंगे।

https://www.toonsarah-travels.blog/the-palace-of-bundi-kiplings-work-of-goblins/

*****

उत्तराखंड लोक चित्रकला शैली "ऐपण"

हरेन्द्र सिंह

उत्तराखंड लोक चित्रकला शैली में प्रकृति वास करती है। उत्तराखंड चित्रकला शैली को गढ़वाल चित्रकला शैली के नाम से भी जाना जाता है। माना जाता है कि यह चित्रकला शैली वर्ष 1658 के आरंभिक वर्षों में उद्भव में आयी। उस काल में गढ़वाल राजा के दरबारों में चित्र बनाने वाले कलाकारों को तसवीरदार कहा जाता था। उत्तराखंड चित्रकला का इतिहास प्रचीन काल से जुड़ा हुआ है। इस चित्रकला शैली की चित्र संबंधी स्मृतियाँ लाखु, ग्वारख्या, किमनी गांव आदि में देखने को मिल जाती हैं। लाखु गुफा के शैल चित्रों में मानव को अकेले या समूह में नृत्य करते हुए दिखाया गया है, इसमें विभिन्न पशुओं को भी चित्रित किया गया है। इसी प्रकार चमोलएन ग्वारख्या की गुफाओं में भी चटकदार पशुओं के चित्र देखने को मिलते हैं। चमोली के ही किमनी गाँव में शैल चित्र हथियारों और पशुओं को दर्शाते हैं। अल्मोड़ा के ल्वेथापके शैलचित्रों में मानव को शिकार करते हुए दिखाया गया है, उधर दूसरी ओर उत्तरकाशी के हुदली गुफा के शैलचित्रों में नीले रंग का बहुताधिक प्रयोग किया गया है। 16वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी में जम्मू से लेकर गढ़वाल में प्रचलित चित्रकला शैली को ही पहाड़ी चित्रकला शैली कहा जाता है। उत्तराखंड के कुछ प्रमुख चित्र कलाकारों के नाम हैं: मोला राम, शामनाथ, शिवराम और मानकु।

उत्तराखंड लोककला चित्रशैली मुख्यत: देवी देवताओं, परंपराओं और प्रकृति पर आधारित है तथा गढ़वाल चित्रकला शैली के मुख्य विषय रुकमणी, मंगल, नायिका भेद, रामायण, महाभारत पर आधारित होते हैं। उत्तराखंड लोक चित्रकला शैली में कांगड़ा चित्रकला शैली की झलक भी देखने को मिलती है। "उत्तराखंड के इतिहास पर गौर किया जाए तो पंद्रहवीं शताब्दी में बलभद्र शाह द्वारा श्रीनगर में काशी से आए कलाकारों द्वारा महल निर्माण, कुमाऊं में संसारचंद के काल में कांगड़ा चित्रकला, पृथ्वीपति शाह द्वारा मुग़ल राजकुमार दाराशिकोह को शरण देने पर मुगलशैली में उत्तराखंड की चित्रकला शैली का विकास देखने को मिलता है। इसी क्रम में हम उत्तराखंड की सबसे प्रसिद्ध ऐपण कला को विस्तार से समझेंगे।

ऐपण (छिपण)

अपनी विशिष्ट कला, संस्कृति और नैसर्गिक खूबसूरती के लिए विश्वभर में प्रसिद्ध उत्तराखंड लोक चित्रकला शैली में ऐपण कला का एक प्रमुख स्थान है। कुमाऊं की स्थानी चित्रकला की शैली को ऐपण के रूप में जाना जाता है। इस कला का उपयोग मुख्यतः धार्मिक अनुष्ठानों व मांगलिक कार्यों में किया जाता है। ऐपण बनाने की परंपरा कुमाऊँनी परिवारों में पीढ़ियों से चली आ रही है। इतिहासकारों के अनुसार ऐपण की उत्पत्ति चंद वंश के शासन के दौरान अल्मोड़ा में मानी जाती है। समय के साथ, ऐपण कुमाऊँनी संस्कृति का एक अटूट हिस्सा बन गई और इसका उपयोग घरों और विभिन्न जगहों को त्योहारों और महत्वपूर्ण अवसरों में सजाने के लिए होने लगा। पर्वतीय क्षेत्र की महिलाओं ने अपनी लोक कला को जीवित रखने के लिए पीढ़ियों से मौखिक रूप से ऐपण कला को हस्तांतरित किया है। ऐपण का अर्थ है लीपना। वैसे लीप शब्द का अर्थ है अंगुलियों से रंग लगाना न कि तूलिका से रंग भरना।

अनुष्ठान के दौरान पारंपरिक पोशाक में ऐपण कला करती महिला

ऐपण को मुख्यत: तीन उंगलियों से लिखा जाता है इसके बिना धार्मिक अनुष्ठान त्यौहार व पूजा अधूरी मानी जाती है। धार्मिक अनुष्ठानों में इस कला का प्रयोग चौकी बनाने, दहलीज व आंगन में सजावट के लिए भी किया जाता है। इस चित्रकला में विभिन्न रंगो से रंगोली बनाई जाती है। ये रंगोली धार्मिक शुभ अवसरों पर विभिन्न रंगो से अलग-अलग ज्यामितीय आकारों में बनाई जाती है। इसे बनाने के लिए गेरू (लाल मिट्टी) व चावल के घोल (विसवार) का प्रयोग किया जाता है जिससे सूर्य, चंद्र, स्वास्तिक, शंख, पुष्प, फूल-पत्ती और माँ-लक्ष्मी-के-पाँव वाली आकृतियां आदि बनाई जाती हैं। दीवारों पर भी इसी प्रकार के ज्यामितीय डिजाइन बनाए जाते हैं।

उत्तराखंड के अतिरिक्त अन्य राज्यों में भी इस कला का प्रयोग किया जाता है जिसे हर राज्य में अलग अलग नाम से पुकारा जाता है जैसे असम में एपोना और बिहार में मधुबनी, उत्तर प्रदेश में अरियाना, राजस्थान में म्हाराना और मध्य प्रदेश में मंदाना, गुजरात और महाराष्ट्र में रंगोली, दक्षिण भारत में कोल्लम, आंध्र प्रदेश में मुगगू और उड़ीसा में अल्पना। इस कला की स्थापना उत्तराखंड में चंद्र वंश के दौरान हुई थी। यह कला देवी देवताओं और प्रकृति के विभिन्न रूपों पर आधारित है। वर्तमान समय में ऐपण विकसित रूप ले चुका है और कपड़ों तथा बर्तनों में भी बनाया जाने लगा है। इसकी विशेष मांग और लोगों में इस कला के प्रति बढ़ते रुझान को देखते हुए कई संस्थानो में इसका प्रशिक्षण भी दिया जा रहा है।

ऐपण के मुख्य डिजाइन – चौखाने, चौपड़, चाँद, सूरज, स्वास्तिक, गणेश, फूल-पत्ती, बसंत्धारे, तथा इस्तेमाल के बर्तन का रूपांकन आदि शामिल हैं। ऐपण के कुछ डिजाइन अवसरों के अनुसार भी होते हैं। दीपावली में लक्ष्मी चौकी तथा लक्ष्मी के पाँव / पैर बनाए जाते हैं, शिव पूजन में शिव चौकी, गणेश पूजन में स्वास्तिक चौकी, शादी ब्याह में धूलि अर्ग की चौकी और कन्या चौकी, मातृ पूजन में अष्टदल कमल चौकी, नामकरण में पंच देवताओं की प्रतीक चौकी (एक गोल चक्र में पांच बिंदु बनाये जाते हैं), यज्ञोपवीत संस्कार में व्रतबंध चौकी, शिव पूजन में शिव चौकी आदि।

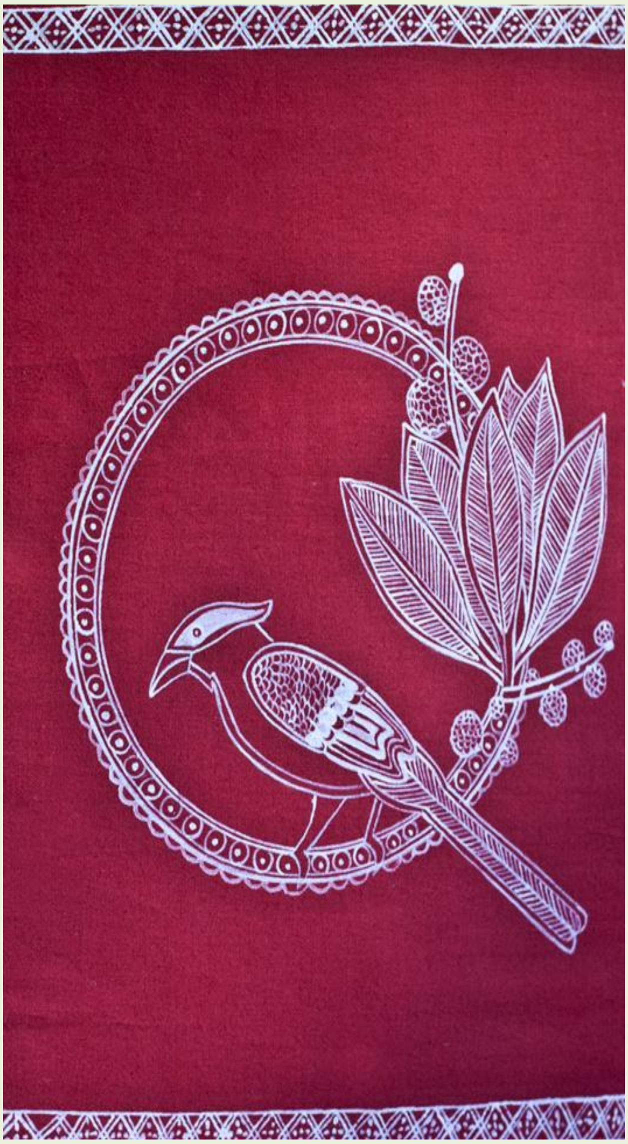

सृजन अंदर से बाहर की ओर होता है। केन्द्र की विषयवस्तु का अंकन सर्वप्रथम तथा उसके बाद धीरे-धीरे परिधि की ओर विस्तार होता है। केन्द्र में बनाए गए चित्र को निश्चित अवयवों और परम्पराओं के आधार पर निरुपित किया जाता है जिसमें ज्यामितीय आधार हो सकते हैं। आधुनिकता की होड़ में जबकि विश्वास निरन्तर जड़ होते जा रहे हैं, महिलाओं द्वारा संजोयी गई इस कला के प्रतिमान कम से कम पर्वतीय क्षेत्र में अभी भी सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति में ह्रास नहीं हुआ है। यह अलग बात है कि प्राकृतिक रंगों के स्थान पर सिंथैटिक रंगों का प्रचलन बढ़ रहा है। इसकी परिणति है कि जो सुघड़ता और लोच गेरूई पृष्ठभूमि पर विस्तार से आभासित होती है उसके स्वरूप में लोक कला का कमतर होता स्वरूप नजर आने लगा है।

ऐपण एक कलारूप ही नहीं, बल्कि एक आध्यात्मिक साधना भी है। कुमाऊं क्षेत्र के बाहर भी ऐपण को लोकपिय्रता और पहचान मिली है। सितंबर, 2021 में ऐपण कला को जीआई टैग में सम्मानित किया गया। इसे भारत की सांस्कृतिक विरासत का महत्वपूर्ण हिस्सा माना जाता है। इसमें उपयोग किए जाने वाले पारंपरिक डिजाइनों को डिजिटाइज करने के प्रयास भी किए जा रहे हैं। भारत सरकार ने इस कला को संरक्षित और बढ़ावा देने के लिए कदम उठाए हैं।

संदर्भ सूची:

उत्तराखंड लोक चित्रकला शैली: **https://wegarhwali.com/uttarakhand-folk-painting-style-in-hindi/**

सुरजीत सिंह (2022): उत्तराखंड के प्रमुख चित्रकार. उत्तराखंड क्लब.

उत्तराखंड सामान्य अध्ययन

अमर उजाला (2023). उत्तराखंड की खास चित्रकला शैली से सजी संसद की दीवारें।

*****

भारतीयता का आधार है देवालय संस्कृति

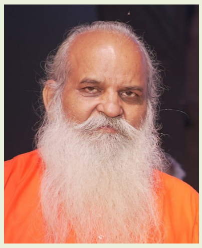

डॉ. विनोद बब्बर
ए -2/9ए, राष्ट्रकिंकर हस्तसाल रोड
उत्तम नगर, नई दिल्ली

देवालय अर्थात् जहां देव निवास करते हों। अब प्रश्न यह कि देव कौन? देव शब्द दिव् धातु से निकला है, जिसका अर्थ है चमकना, प्रकाशमान, तेजस्वी, मार्ग दिखाने वाला, जिसके गुणों और आचरण से प्रेरणा मिलती हो। आमतौर पर देव और देवता को समानार्थक माना जाता है। उस अर्थ में देवालय वे स्थान हैं जहां ईश्वर का वास है। श्रद्धालु को देवालय की सकारात्मक तंरगों से आत्मिक शांति का अनुभव होता है। लेकिन जिन्हें श्रद्धा नहीं उनके लिए वह सामान्य स्थान है।''**(श्रद्धावान लभते ज्ञानम्)**''

निस्वार्थी सज्जन, साधक को भी देव कहा जाता है। जिनका आचरण वंदनीय और अनुकरणीय हों वे देव कहलाते हैं। देवालयों में ऐसे देवपुरुषों से साक्षात्कार संभव है। देव पुरुषों की संगत कल्याणकारी है। इस संबंध में महात्मा चाणक्य का कथन है –

गम्यते यदि मृगेन्द्र-मंदिर लभ्यते
करिकपोलमौक्तिम्।
जम्बुकाऽऽलयगते च प्राप्यते वत्स-पुच्छ-चर्म-
खुडनम्।।

(यदि सिंह की गुफा में जाये तो संभव है कि वहां हाथी के मस्तक का मोती प्राप्त हो जाए लेकिन गीदड़ की गुफा में जाने पर बछड़े की पूंछ अथवा गधे के चमड़े का टुकड़ा ही मिलेगा।) भाव यह कि जैसी संगति रखोगे वैसा ही परिणाम और प्रभाव होगा। बहुत संभव है देवालय में जाने वाला सज्जनों की संगति में सद्गुणी होगा। देवालय केवल उपासना, पूजा-अर्चना और अध्यात्म स्थल नहीं, अपितु भारतीय समाज में सांस्कृतिक मूल्यों के संरक्षण में देवालयों की भूमिका प्राण वायु जैसी रही है। देवालयों के महत्व को समझने के लिए एक छोटी सी कथा से अपनी बात आरंभ करना चाहता हूं। एक बार एक मंदिर में एकत्र हो स्थानीय लोग पूजा-उपासना, संकीर्तन कर रहे थे। तभी एक घायल व्यक्ति वहां उपस्थित हुआ जिसके शरीर पर पट्टियां बंधी थी। उसने संकीर्तन कर रहे ग्रामवासियों को कोसते हुए कहा, 'सीमा पर संकट है और आप यहां समय बर्बाद कर रहे हैं। मुझे देखो मैं शत्रु सेना का मुकाबला करके लौटा हूं। तुम्हें शर्म आनी चाहिए।'

उस सैनिक की बात सुन एक व्यक्ति ने उसे बहुत सम्मान से बैठाया। उसे शीतल जल प्रस्तुत करते हुए उसने अत्यंत विनम्रता से पूछा, 'भैया क्या आप बता सकते हो कि आपको ये घाव कैसे हुए?' सैनिक बोला, 'मैं शत्रु सेना को रोकते हुए घायल हुआ हूं।' 'लेकिन आपको उसे रोकने की आवश्यकता ही क्यों पड़ी? यदि आप ऐसा नहीं करते तो उसका क्या प्रभाव हो सकता था?''यदि हम उन्हें नहीं रोकते तो वे हमारे देश पर अपना अधिकार जमा सकते थे।' 'उससे क्या होता? क्या सूर्य उदय नहीं होता? क्या वृक्षों पर फल नहीं लगते? खेतों मे अनाज नहीं होता?'

'कैसी बात कर रहे हो? इतना भी नहीं जानते कि यदि शत्रु हावी हो गया तो इस देश की संस्कृति को नष्ट कर देगा।' इतना सुनते ही उस व्यक्ति ने सैनिक से कहा, 'मेरे बंधु! जो काम आप और आपके साथी सीमा पर कर रहे हैं, वहीं तो हम

भी कर रहे हैं। आप सीमा के सैनिक हैं तो ये सब देवालय में संस्कृति संरक्षक सैनिक हैं।' किसे ज्ञात नहीं कि मंदिरों-देवालयों में ही भारतीय संगीतकला, नृत्यकला, आयुर्वेद, युद्धकला, वास्तु, शिल्प व मूर्तिकला पोषित हुई है। ये शिक्षा और संस्कृति के प्रसार के केन्द्र हैं तो इनका अपना विज्ञान है। चरित्र निर्माण में इनकी महती भूमिका है। इसीलिए विधर्मी आक्रांताओं ने हमारे देवालयों पर आक्रमण किया। वे जानते थे कि देवालय संस्कृति का आधार है। जब तक देवालय हैं, भारतीय संस्कृति अक्षुण्ण है।

यह सर्वविदित है कि प्राचीन काल में हमारे ऋषि देवालयों में गुरुकुल थे जहां राजकुमार से रंक पुत्र तक सभी को समान शिक्षा और संस्कार प्रदान किये जाते थे। इन गुरुकुलों की व्यायामशालाओं में मल्लयुद्ध, धनुर्विद्या का ज्ञान और अभ्यास कराया जाता था। श्रीराम-लक्ष्मण से पांडवों और श्रीकृष्ण-सुदामा तक सभी ने गुरुकुलों से ही शास्त्र और शस्त्र का ज्ञान प्राप्त किया। आज भी दक्षिण भारत में ज्ञान और शौर्य के अप्रतिम शिरोमणि परशुराम द्वारा स्थापित कलारी पयाट्टू विराजमान हैं।

प्राचीन काल की तरह आज भी अनेक देवालयों में धन्वंतरि और चरक से प्रेरित चिकित्सा का प्रसार देखा जा सकता है, जहां जन-जन को शारीरिक रोग-व्याधि से मुक्ति मिलती है। इसके अतिरिक्त ये देवालय सामुदायिक रसोई, विवाह स्थल व पर्व-त्योहारों के लिए सामाजिक व आर्थिक मिलन के केंद्र रहे हैं। तिरुपति सहित अनेक देवालय ऐसे हैं जहां श्रद्धालुओं से प्राप्त सहयोग के बल पर विश्व का एकमात्र वैदिक विश्वविद्यालय तथा अनेक शिक्षण के केन्द्र संचालित होते हैं।

पुरी स्थित जगन्नाथ मंदिर में विश्व की सबसे बड़ी रसोई है जहां प्रतिदिन लाखों श्रद्धालु भोजन प्रसाद प्राप्त करते हैं। जगन्नाथ मंदिर, तिरुपति, कर्नाटक के धर्मस्थल तथा हुबली का अक्षय पात्र, गुजरात के अनेक मंदिरों में स्थित अन्नक्षेत्र सहित देश में लाखों ऐसे देवालय हैं जहां जरूरतमंदों को निःशुल्क भोजन उपलब्ध कराया जाता है। तीर्थक्षेत्रों में देवालयों द्वारा संचालित धर्मशालाओं में यात्रियों के रूकने की व्यवस्था की भरमार है।

चित्र: कलारी पयाट्टू

इस बात से भला किसे एतराज होगा कि हमारे देवालय, करोड़ों लोगों को जीविका प्रदान कराते हैं। केवल विश्वनाथ की बात करें तो परिसर निर्माण के बाद काशी आने वाले यात्रियों की संख्या दस करोड़ पार कर गई। इन यात्रियों के कारण केवल प्रसाद और पूजा सामग्री पुष्प आदि ही नहीं, यात्री-निवास, रिक्शा से टैक्सी, नौका तक परिवहन सेवाओं और खानपान की मांग में जबरदस्त वृद्धि हुई है। इसी प्रकार नवनिर्मित राममंदिर अयोध्या, असम के कामाख्या, उज्जैन स्थित श्रीमहाकाल, गंगातट पर स्थित हरिद्वार, ऋषिकेश, प्रयागराज तथा वैष्णोदेवी, अमरनाथ, बदरीनाथ-केदारनाथ धाम, तिरुपति, पद्मनाभस्वामी, सोमनाथ, द्वारका, अम्बाजी, श्रीनाथजी, जैसे अनेक तीर्थ, देवालय आने वाले लोगों द्वारा अर्थव्यवस्था में योगदान की गणना करें तो आंखे आश्चर्य से खुली रह जाती हैं। विशेष यह कि हमारे तीर्थों से केवल हिन्दू ही नहीं अपितु सभी सम्प्रदाय के लोग भी रोजगार पाकर लाभांवित होते हैं। गत दिवस गीता प्राकट्य नगरी कुरुक्षेत्र में अपने एक सप्ताह के प्रवास के दौरान एक देवालय में एक विदेशी यात्रियों के दल से संवाद हुआ। उन्होंने पूछा, 'गीता क्यों जरूरी है?' तो मैंने उनसे पश्चिमी देशों में तेजी से बढ़ रहे अवसाद और अवसाद के कारण वहां करोड़ो डालर/ यूरो की दवाओं का व्यापार होने की चर्चा करते हुए कहा, 'आपके देशों में परीक्षा अथवा प्रेम में असफलता पर आत्महत्या के मामले भी बहुत होते हैं क्योंकि वहां प्रतिकूल परिस्थितियों को सहज स्वीकार करने का अभ्यास नहीं है। जबकि गीता ने हमें सिखाया है कि तुम्हारा अधिकार केवल कर्म पर है, फल पर नहीं। यदि किसी कारण से कर्म फल अपेक्षा से कम अथवा शून्य हो तो भी हम बहुत विचलित नहीं होते। आंसू पोंछ कर आगे बढ़ना हमारे डीएनए में है जो हमें गीता ने सिखाया है। आज गीता प्राकट्य स्थली पर आप चिंतन-मनन करें कि आपको एक 'गीता' चाहिए या हजारों अस्पताल और टनों अवसाद की दवाएं चाहिए।' कहना न होगा, दुनिया भर के लोग भारतीय संस्कृति के उन्नायक हमारे देवालयों का महत्व जानकर अभिभूत हों 'हरे कृष्णा, हरे राम' गाते- झूमते दिखाई दें। सदियों से देवालयों के प्रति हमारे पूर्वजों की आस्था अकारण नहीं हो सकती। इस आस्था पर प्रश्नचिन्ह लगाने वालों की मानसिकता को समझना जरूरी है। साकार-निराकार अथवा मूर्ति को पाषाण कह देवालय निषेध कहने वाले स्वयं अपने सम्प्रदाय में रूप बदलकर यही सब करते हैं। हमारी संस्कृति के आधारभूत स्तम्भ मंदिर-देवालय अनंत ऊर्जा के स्रोत हैं। बदलते परिवेश में पश्चिमी गुलामी अथवा वाममार्ग को तज, देवालयों की भावात्मक, वैज्ञानिक और दार्शनिक अवधारणा को स्कूली पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर देश की भावी पीढ़ी को अधिकतम ज्ञान लाभ अर्जित करने के अवसर प्रदान किये जाएं।

*****

हिन्दी के प्रचार-प्रसार में रत ब्रिटेन की हिन्दी सेवी संस्थाएं

डा0 विनय कुमार शर्मा
संपादक, शोध सरिता
लखनऊ

वर्तमान में ब्रिटेन में हिन्दी के उन्नयन और प्रचार-प्रसार में भारत के भी कई स्त्रोतों का सहयोग रहा है। ब्रिटेन में हिन्दी के कार्यो का समन्वय विदेश मंत्रालय के हिंदी-प्रभाग द्वारा किया जाता है। नब्बे के दशक से भारत का विदेश मंत्रालय, ब्रिटेन में होने वाले अंतर्राष्ट्रीय कार्यक्रमों में श्रेष्ठ और जनप्रिय कवियों और साहित्यकारों को भेजकर, ब्रिटेन की संस्थाओं का मनोबल बढ़ाते हुए उन्हें सफलता की ओर अग्रसर करता रहा है। उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान लखनऊ भी ब्रिटेन में होने वाले अंतर्राष्ट्रीय कवि-सम्मेलनों और सांस्कृतिक कार्यक्रमों में लोकप्रिय गीतकारों और कवियों को ब्रिटेन भेजकर, हिंदी के प्रचार-प्रसार में सहायता करा रहा है। इस तरह के साहित्यिक कार्यक्रमों द्वारा हिंदी-प्रेमी सामान्य जनता के साथ अगली पीढ़ी को भी सक्रिय करने का प्रयास कर रहे हैं। यू0के0 में हिन्दी के उन्नयन के लिए कार्य करती बहुत-सी स्वैच्छिक संस्थाएँ हैं जो पूरे ब्रिटेन में फैली हुई हैं। इन सभी संस्थाओं के कार्यक्षेत्र एवं लक्ष्य भिन्न हैं। अब वर्तमान में लगभग इन सभी संस्थाओं में परस्पर गहन सम्बन्ध एवं वार्तालाप है। इन संस्थाओं के सभी कार्यकर्ता निःस्वार्थ भाव से केवल हिंदी-प्रेम से प्रेरित होकर, बड़ी लगन और योजनाबद्ध ढंग से अपने व्यस्त जीवन में से समय निकालकर बिना किसी सरकारी अनुदान के हिंदी सेवा का कार्य स्वैच्छिक ढंग से कर रहे हैं।

ब्रिटेन में 1990 में भारतीय राजदूत डा0 लक्ष्मीमल्ल सिंघवी और कमला सिंघवी के आगमन एवं संरक्षण से ब्रिटेन के हिन्दी-संसार में एक अद्‌भुत युग का आरम्भ हुआ। महामहिम सिंघवी जी के घर पर साहित्यिक गोष्ठियाँ आदि होने लगीं जिनमें मात्र भारत के ही नहीं, ब्रिटेन के विभिन्न शहरों के उभरते हुए कथाकार, कवि, लेखक, साहित्यकार आदि भी प्रकाश में आने लगे। इस दशक में बर्तानिया में रहने वाले भारतवंशियों के हृदय में हिन्दी के प्रति जो प्यार जागा, वह प्रवासी हिन्दी साहित्य के इतिहास में सदा अविस्मणीय रहेगा। डा0 सिंघवी ने नेहरू-केन्द्र को पुनः गतिशील किया, शेक्स्पीयर की जन्म-स्थली पर गुरूदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर की मूर्ति की स्थापना की, मैनचेस्टर में डा0 हरिवंशराय बच्चन के नाम से हिंदी–चेयर की स्थापना की। उन्होंने हिंदी की हर सभा और हर उत्सव में हिन्दी भाषा और संस्कृति पर सारगर्भित भाषण देकर जनता को प्रेरणा प्रदान की।

डा0 लक्ष्मीमल्ल सिंघवी एवं कमला सिंघवी के प्रोत्साहन से ही यू0के0 हिंदी समिति, एक बहुमुखी और गतिशील संस्था के रूप में विकसित हुई। आज 'यू0 के0 हिन्दी-समिति' ब्रिटेन की एक बृहद् एवं महत्वपूर्ण संस्था है जिसकी स्थापना 1990 में ईस्ट लंदन में श्री प्रेमचन्द सूद और उनके साथियों द्वारा की गई। पद्मेष गुप्त ने उस समय प्रेमचंद सूद के संरक्षण में 'हिन्दी' नाम से कम्प्यूटर पर कम्पोज़ की गई एक छोटी सी हिन्दी की मासिक पत्रिका प्रकाशित की जो अल्पायु रही। बाद में पद्मेष गुप्त इसी संस्था 'यू0के0 हिन्दी समिति' के अध्यक्ष हुए। इस समय 'हिन्दी-समिति', भारत से आए साहित्यकारों के व्याख्यान और स्थानीय गोष्ठियाँ आदि करते हुए यू0के0 के हिंदी-प्रेमियों को आपस में जोड़ने का कार्य आरम्भ

कर चुकी थी, अतः हिंदी के कार्यक्रमों में लोगों की उपस्थिति बढ़ने लगी थी।

1993 में हिन्दी भाषा, साहित्य और संस्कृति के उन्नयन के लिए भारतीय उच्चायोग के सहयोग से 'अहिंसम् भारतीय-मैनचेस्टर संस्था' मैनचेस्टर में स्थापित हुई। उसी वर्ष इंडियन एसोसिएशन मैनचेस्टर के कार्यकर्ता डा0 लता पाठक, राम पाण्डे और डा0 रंजीत सुमरा ने 25-26 सिंतम्बर को दो-दिवसीय भव्य अंतर्राष्ट्रीय हिंदी साहित्य सम्मेलन आयोजित किया। अहिंसम् भारतीय-मैनचेस्टर' के इस कार्यक्रम में डा0 लक्ष्मीमल्ल सिंघवी (तत्कालीन उच्चायुक्त), श्रीमती कमला सिंघवी, हिन्दी-अधिकारी, डा0 सुरेन्द्र अरोड़ा, मैनचेस्टर के महापौर, लंदन विश्वविद्यालय के हिन्दी के प्राध्यापक डा0 रूपर्ट स्नेल, भारत से आए कवि रमानाथ अवस्थी, हसरत जयपुरी, मजरूह सुल्तानपुरी, नीरज, पद्म सचदेव, जर्मनी से आई मारग्रेट गाल़्ज़लाफ, हंगरी की मारिया नेज्येत्शी, नार्वे के सुरेशचंद शुक्ल आदि कवियों ने कवि-सम्मेलन एवं भाषा-सम्मेलन में भाग लिया। 1993 के इस सम्मेलन के आयोजन में 'यू0के0' हिंदी समिति' से पद्मेष गुप्त, उषा राजे और के0बी0एल0 सक्सेना ने अपना पूरा सहयोग दिया। इस दो-दिवसीय हिंदी के कार्यक्रम में विराट् कवि सम्मेलन और भाषा-सम्मेलन तथा सांस्कृतिक कार्यक्रम आदि हुए। इसी सम्मेलन में मैनचेस्टर विश्वविद्यालय में डा0 हरिवंशराय बच्चन के नाम से 'चेयर' की स्थापना हुई। अहिंसम् भारती ने 'यूरोप में प्रथम अंतर्राष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन' 25-26 सितंबर 1993 मैनचेस्टर, इंग्लैण्ड नामक स्मारिका प्रकाशित की, जिसमें डा0 लक्ष्मीमल्ल सिंघवी जी का लिखा 'हिन्दी हम सबकी परिभाषा' नामक बोध-गीत इंग्लैण्ड में पहली बार प्रकाशित हुआ।

इस तरह के विराट कवि-सम्मेलनों और भाषा-सम्मेलनों जैसे साहित्यिक कार्यक्रमों से यू0के0 वासी प्रफुल्लित हो उठे। यह उनकी जड़ों की ओर लौटने के लिए अभिनव अनुभव था। धीरे-धीरे भूले-बिसरे हिन्दी-प्रेमी, हिंदी और हिंदी साहित्य से इस तरह जुड़ने लगे जैसे कि उनकी कोई अवचेतन मन की इच्छा पूरी हो गई हो। इस तरह 1993 के अंतर्राष्ट्रीय कवि-सम्मेलन की सफलता को देखते हुए यू0के0 हिन्दी-समिति के अध्यक्ष डा0 पद्मेश गुप्त, उपाध्यक्षा उषा राजे, के0बी0एल0 सक्सेना एवं बृज गोयल और अन्य हिंदी-प्रेमियों ने मिलकर डा0 लक्ष्मीमल्ल सिंघवी के संरक्षण और भारतीय दूतावास के सहयोग से प्रतिवर्ष हिंदी-दिवस के अवसर पर यू0के0 हिंदी-समिति के तत्वावधान में अंतर्राष्ट्रीय कवि-सम्मेलन के आयोजन की श्रृंखला एक आंदोलन की तरह हिंदी-भाषियों को आपस में जोड़ने के लिए आरम्भ की।

भारत के लब्धप्रतिष्ठ कवियों-साहित्यकारों का वर्ष 1993 से प्रत्येक वर्ष लंदन के अंतर्राष्ट्रीय कवि सम्मेलन' के लिए आना प्रारम्भ हो गया और राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय कवियों और साहित्यकारों को ब्रिटेन में एक-साथ मंच मिलने लगा। हिंदी-भाषी उस देश में खुलकर आपस में हिंदी बोलने लगे जहाँ वह पिछले तमाम वर्षों से मात्र 'टैबू' की हालत में थी। यह वह दशक था जब बाजारों में भारतीय वस्त्र, गहने, मिठाइयाँ, सब्ज़ियाँ, वीडियो कैसेट, पुस्तकें आदि खुलकर बिकने लगीं। नाटकशालाओं में हिंदी नाटक, नृत्य, सिनेमा-घरों में हिंदी फिल्में, मंदिरों में भजन-कीर्तन सभाओं में व्याख्यान, गोष्ठियाँ, वर्कशाप, पठन-पाठन और शादी-ब्याह सब कुछ खुलकर भव्य स्तर पर होने लगा, यानी ब्रिटिश-भारतीय अपना परिवेश अपनी रूचि के अनुसार ब्रिटेन में बनाने लगे। स्थानीय अंग्रेज जाति, एशियन लोगों के साथ मिलकर स्वयं भारतीय शैली के बाजार और मेले आदि खुले मैदानों और पार्कों में आयोजित करने लगी। उन्हीं दिनों कई प्रसिद्ध भारतीय विवाह और संस्कार आदि भी टी0वी0 पर दिखाए गए।

हिन्दी भाषा और परिवेश की महत्ता बताते हुए कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्रवक्ता डा0 सत्येन्द्र

श्रीवास्तव जी ने अपनी पुस्तक 'टेम्स में गंगा की धार' में एक जगह कहा है कि हिंदी की अपनी कोई मानक भौगोलिक सत्ता नहीं है। वह विश्व की भाषा है अर्थात् हिंदी भाषी लोग किसी क्षेत्रविशेष में नहीं रहते जैसे कि गुजराती, पंजाबी, बंगाली। हिंदी किसी जाति अथवा धर्मविशेष की भाषा नहीं है। यह भारत की सार्वभौमिक भाषा है, राजभाषा है, पूरे देश की भाषा है, भारत की सम्पर्क-भाषा है। जहाँ जहाँ भारतीय हैं, यह वहाँ-वहाँ की भाषा है। हिंदी अब विश्व के हर कोने में सुनी जा सकती है।

आज की तारीख में निम्नलिखित संस्थाएं हिन्दी भाषा और साहित्य के लिए प्रतिबद्ध हैं और विश्व के हिंदी-जगत में ये अपने कार्य और निष्ठा के लिए जानी-पहचानी जाती हैं।

भारतीय उच्चायोग

भारतीय उच्चायोग आरम्भ से ही भारतीय संस्कृति और हिन्दी के प्रचार-प्रसार से जुड़ा रहा है। हिंदी के पठन-पाठन का कार्य 1984 से, जब से भारत से हिंदी एवं सांस्कृतिक अधिकारियों के आने का सिलसिला जुड़ा तब से, ब्रिटेन में हिंदी के पठन-पाठन और शिक्षण-कार्यक्रम और भी अधिक गतिशील एवं सुनियोजित ढंग से होने लगा। इन हिंदी-अधिकारियों ने ब्रिटेन-निवासी भारतीय जनता और हिंदी के उन्नयन में सलग्न संस्थाओं से सम्बन्ध जोड़कर उन्हें प्रोत्साहित किया। आज जिस स्तर पर हिंदी का कार्य ब्रिटेन में हो रहा है, उसमें न केवल हिंदी-अधिकारियों का सहयोग है, बल्कि भारतीय उच्चायुक्त से लेकर संस्कृति-समन्वय अधिकारी का योगदान भी होता है।

भारतीय विद्याभवन, लंदन, 1972

'भारतीय विद्याभवन' भारतीय संस्कृति और हिंदी भाषा को ब्रिटेन में अक्षुण्ण रखने वाली सबसे पुरानी और प्रख्यात संस्था है। 'भारतीय विद्याभवन' भारत सरकार से सम्बद्ध होते हुए भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। 'भारतीय विद्याभवन' के भूतपूर्व निदेशक डा0 माथुर कृष्णामूर्ति और वर्तमान निदेशक डा0 नन्दकुमार के निर्देश में पिछले 33 वर्षों से निरंतर भारतीय संस्कृति एवं भाषा के उन्नयन का कार्य कर रही है। 'भारतीय विद्याभवन' में अन्य भारतीय भाषाओं के साथ हिंदी की कक्षाएँ लगती हैं। यह संस्था हिंदी भाषा सम्मेलन, कवि गोष्ठी, काव्य सम्मेलन, नाटक, शास्त्रीय नृत्य आदि का प्रमुख रूप से मंचन करती है। इस संस्था से भारत के महान् विद्वान जुड़े हुए हैं। दुनिया के हर कोने में 'भारतीय विद्याभवन' की शाखाएँ होने के साथ ब्रिटेन के अन्य शहरों में भी इसकी शाखाएं हैं। संस्था हिन्दी की प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिका 'नवनीत' का प्रकाशन नियमित रूप से करती है।

नेहरू केन्द्र, लंदन, 1992

नेहरू केन्द्र भारतीय उच्चायोग का ही एक भाग है जिसमें भारतीय संस्कृति की सभी कलाओं को प्रश्रय दिया जाता है। यह केन्द्र भारतीय एवं ब्रिटिश संस्कृति के बीच सेतु बनाता है। 'नेहरू केन्द्र' नाटक, नृत्य, संगीत, भाषा-साहित्य सम्मेलन, कवि सम्मेलन, कला एवं पुस्तक प्रदर्शनी आदि का उत्कृष्ट आयोजन करता है। यह एक ऐसा बहुभाषीय केन्द्र है जिसके पुस्तकालय में आपको संसार की हर संस्कृति पर प्रामाणिक पुस्तकें एवं पत्र-पत्रिकाएं मिल जाएंगी।

यू0के0 हिंदी समिति, लंदन, 1992

यू0के0 हिंदी-समिति ब्रिटेन की एक ऐसी वृहत स्वैच्छिक संस्था है जो अपने सदस्यों एवं साथियों के सहयोग से हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए यू0के0 में एकमात्र हिंदी की साहित्यिक पत्रिका 'पुरवाई' का प्रकाशन करते हुए विश्वभर के हिंदी के साहित्यकारों, लेखकों एवं कवियों को मंच देती है। वर्ष में एक बार हिंदी-दिवस के उपलक्ष्य में आई0सी0सी0आर0 और हिंदी संस्थान लखनऊ के सहयोग से अंतर्राष्ट्रीय कवि सम्मेलन और भाषा-सम्मेलन आदि लंदन में करने के अतिरिक्त ब्रिटेन के अन्य शहरों में भी अन्य संस्थाओं के साथ आयोजित करती रही है। हिन्दी-समिति ने

1999 में ब्रिटेन की अन्य संस्थाओं के साथ मिलकर लंदन विश्वविद्यालय के प्रांगण में 14 से 18 सितम्बर को 'छठा' विश्व हिंदी सम्मेलन' आयोजित किया जिसमें भारत एवं देश-विदेश के लगभग साढ़े चार सौ विद्वानों ने भाग लिया था।

समय-समय पर अन्य 'परमार्थ' कार्य करते हुए हिंदी-समिति ब्रिटेन के लेखकों को प्रोत्साहित करने के लिए यू0के0 में हिन्दी साहित्यिक लेखन की 'पांडुलिपि-प्रतियोगिता' कर उसके विजेता की पुस्तक को प्रकाशित कर उसका लोकार्पण तथा चर्चा किसी विशिष्ट साहित्यकार से कराती है। समिति अपने 'हिंदी परामर्श मंडल' (गठन 2001) के सहयोग से हिंदी के उन्नयन के लिए उच्चकोटि की संगोष्ठियां आदि तो आयोजित करती ही है, अपने वार्षिक उत्सव में भारत तथा यू0के0 के साहित्यिक एवं सांस्कृतिक दूतों को भी चयनित कर उनको सम्मानित करती है। साथ ही ब्रिटेन की अन्य सभी हिंदी-सेवी संस्थाओं को उनके कार्यक्षेत्र में सहयोग देती है। इन सबके अतिरिक्त हिंदी-समिति हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए नाटक-प्रदर्शन, कम्प्यूटर वर्कशाप, पुस्तक-प्रदर्शनी, पांडुलिपि-प्रतियोगिता और पुस्तक-प्रकाशन आदि के क्षेत्र में भी कार्य करती है।

उषाराजे ब्रिटेन की एकमात्र हिंदी की साहित्यिक त्रैमासिक पत्रिका 'पुरवाई' की सह-संपादिका तथा यू.के. हिंदी समिति की उपाध्यक्ष हैं। पिछले तीन दशकों से आप ब्रिटेन के 'लंदन बारो आफ मर्टन' की विभिन्न शैक्षिक संस्थाओं में महत्वपूर्ण पदों पर कार्यरत रही हैं। आपने बारो आफ मर्टन एजुकेशन अथारिटी के पाठ्यक्रम का हिंदी-अनुवाद भी किया।

ब्रिटेन में आयोजित होने वाले प्रत्येक राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय हिंदी भाषा साहित्य-सम्मेलनों एवं कवि-सम्मेलनों की धुरी उषाराजे जी विश्वभर में अपने विशिष्ट लेखन के साथ ही छठे एवं सातवें विश्व हिंदी सम्मेलनों में अपनी सक्रिय सहभागिता एवं हिंदी-सेवा के लिए जानी जाती हैं।

गीतांजलि बहुभाषीय समुदाय, बरमिंघम, 1995

उक्त संस्था 'यू0के0 हिंदी-समिति' के साथ वार्षिक अंतर्राष्ट्रीय कवि-सम्मेलन बर्मिंघम में आयोजित करती है। 'गीताजंलि बहुभाषीय समुदाय' का क्षेत्र विस्तृत है। इस संस्था के संचालक हैं डा0 कृष्ण कुमार, चित्रा कुमार और प्रफुल्ल पटेल आदि। यह संस्था प्रतिमाह एक काव्य गोष्ठी करती है जो बहुभाषिक होती है। इसमें अधिकांश बहुभाषिक रचनाएँ हिंदी-अनुवाद के साथ पढ़ी जाती हैं। विशेष बात यह है कि कवि-गोष्ठी में स्थानीय नई पीढ़ी, यानी बच्चे भी, मातृभाषा में काव्य-पाठ के लिए आते हैं। इस संस्था ने अपने समुदाय के सदस्यों की रचनाओं को लघु पुस्तकों में संकलित किया है। यह संस्था वार्षिक अंतर्राष्ट्रीय कवि-सम्मेलन के अतिरिक्त वर्ष में एक बार राष्ट्रीय बहुभाषी कवि-सम्मेलन भी करती है, साथ ही समय-समय पर यह भाषा-सम्मेलन और कार्यशाला आदि भी कराती है।

कला-ज्योति, नार्थ लंदन, 1995

कला-ज्योति भारतीय संस्कृति एवं हिंदी-भाषा को कवि-सम्मेलनों और सांस्कृतिक कार्यक्रमों द्वारा जनसाधारण तक पहुंचाने और उन्हें हिंदी-भाषा के मंच से जोड़ने के लिए हिंदी नाटक, कविता-पाठ, अंत्याक्षरी, नृत्य-संगीत तथा त्योहारों के भव्य प्रदर्शन आदि सांस्कृतिक आयोजन करती है। इस संस्था की कार्यकत्रियाँ हैं श्रीमती पुष्पा भार्गव, अहिल्या तथा मंजू सक्सेना आदि।

कावेन्ट्री लाइब्रेरी, 1995

कावेन्ट्री में नेहरू फ्रिटर जी प्रतिमाह नियमित रूप से लगातार पिछले कई वर्षों से एक बहुभाषी कवि गोष्ठी कावेन्ट्री के पुस्तकालय में करती आ रही हैं जिसमें कवियों और शायरों के अतिरिक्त कोई भी

काव्य-प्रेमी हिंदी या किसी अन्य भाषा में काव्यपाठ कर सकता है।

भारतीय भाषा संगम, यार्क, 1999

यह संस्था 'यू0के0 हिंदी-समिति' के साथ वार्षिक अंतर्राष्ट्रीय कवि सम्मेलन का आयोजन करते हुए समय-समय पर राष्ट्रीय एवं स्थानीय कवि-सम्मेलन और सेमिनार आदि का आयोजन करती है। 'भारतीय भाषा संगम' एक उभरती हुई गतिशील संस्था है जो आसपास अधिक हिंदी-भाषी समाज न होने के बावजूद हिंदी के कार्यक्रमों को बड़ी ही सफलता के साथ अंग्रेजों और विदेशी हिंदी-प्रेमियों के साथ आगे बढ़ा रही है।

हिन्दी भाषा समिति, मैनचेस्टर, 2000

'हिन्दी भाषा समिति' प्रतिवर्ष 'यू0के0 हिन्दी-समिति' के साथ अंतर्राष्ट्रीय कवि-सम्मेलन का आयोजन मैनचेस्टर में करती है। यह संस्था समय-समय पर कवि-गोष्ठी एवं राष्ट्रीय कवि-सम्मेलन तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन करते हुए हिन्दी-भाषियों को एक झंडे तले एकत्रित करने का दुष्कर कार्य भी करती है।

कथा यू0 के0, लंदन, 2000

यह संस्था ब्रिटेन के कहानीकारों को न केवल आपस में जोड़ती है, वरन् उन्हें विश्व के हिन्दी-जगत में प्रतिष्ठित एवं सम्मानित भी करती है। 'कथा यू0के0' प्रतिवर्ष यू0के0 में भारत एवं ब्रिटेन की किसी उत्कृष्ट साहित्यिक पुस्तक का चयन कर, जून अथवा जुलाई के मध्य उसके लेखक को अंतरराष्ट्रीय 'इंदु कथा साहित्य सम्मान' एवं 'पदमानंद साहित्य सम्मान' से सम्मानित करती है। 'कथा यू0के0' चयनित भारतीय हिंदी पुस्तक के लेखक को एयर इंडिया के सौजन्य से हवाई यात्रा का व्यय एवं एक सप्ताह का लंदन-अतिथ्य देती है, साथ ही उन्हें नेहरू-केन्द्र में स्मृति चिह्न, श्रीफल और शाल भेंट कर सम्मानित करती है। यह संस्था मासिक कथा-गोष्ठियाँ करती है जिसमें मूल रूप से ब्रिटेन के दो कथाकार स्वलिखित रचनाएँ पढ़ते हैं। कथा-वाचन के बाद श्रोताओं के विचार और मत आमंत्रित होते हैं। कथा-वाचन की प्रतिक्रियाएँ इंटरनेट पर प्रसारित की जाती हैं। 'कथा यू0के0' प्रतिवर्ष 'स्मारिका' के रूप में एक पत्रिका निकालती है। कथा-गोष्ठी में पढ़ी गई कहानियों को गोष्ठी में हुई प्रतिक्रियाओं के साथ पुस्तक के रूप में प्रकाशित भी करती है। 'कथा यू0के0' ब्रिटेन में आए हिन्दी सैलानी कथाकार अतिथियों का भी स्वागत-समारोह आदि करती है। 'कथा यू0के0' की कथा-गोष्ठियाँ यू0के0 के विभिन्न शहरों में भी आयोजित होती रहती हैं। 'कथा यू0के0' की योजनाओं में कहानियों का मंचन, कहानी-कार्यशाला और कहानी-प्रतियोगिता आदि भी शामिल है जिसमें युवावर्ग का भी प्रतिनिधित्व होता है। 'कथा यू0के0' के सारे कार्यक्रम हिंदी के प्रचार-प्रसार को ध्यान में रखते हुए निःशुल्क आयोजित होते हैं। कथा यू0के0 के कार्यकर्ता हैं श्री तेजेन्द्र शर्मा और नयना शर्मा आदि।

साउथ लंदन गिल्ड आफ हिंदी विमेन राइटर्स, 2002

'साउथ लंदन गिल्ड ऑफ विमेन-राइटर्स' एक ऐसी संस्था है जिसका उद्देश्य उन (स्थानीय प्रवासी भारतीय) महिलाओं को मंच देना है जिनके पास केवल संवेदनशील हृदय और संघर्षो से युक्त अनुभवों का विशाल भंडार है, जो अपने अनुभव को बाँटने और वाचन शैली में अभिव्यक्त करने के लिए बेचैन हैं, जिनके हृदय में महाकाव्य रच चुके हैं परन्तु उनके पास लेखनी नहीं है, शब्दों के भंडार नहीं हैं। वे मात्र भुक्तभोगी वाचक हैं। संस्था के सृजनकर्मी उनके अनुभवों, संघर्षो और यातनाओं को कविता, कहानी, लेख, उपन्यास आदि में ढालने और प्रेरित करने के लिए प्रतिबद्ध हैं। ऐसी महिलाओं का परिचय यह संस्था हिंदी के साथ अन्य भारतीय भाषाओं और अंग्रेजी जगत के सृजकों से कवि-गोष्ठी, कहानी-गोष्ठी, प्रकाशन, लोकापर्ण, मान-सम्मान, लेखन-कार्यशाला,

पुस्तक एंव कला-प्रदर्शनी तथा परोपकार से कराती है। संस्था को 'लंदन बारो आफ मर्टन' का प्रश्रय है। सभी कार्यकर्ता स्वैच्छिक हैं। संस्था के कार्यकर्ता हैं उषा राजे सक्सेना, प्रतिभा डावर, कादंबरी मेहरा और स्नेहलता टंडन आदि।

2- गगनांचल, अंक 4, 2002।

3- नागरी पत्रिका-वर्ष 36, अंक 5, 2003।

4- बी0बी0सी0 लंदन से हिंदी प्रसारण के पचास वर्ष और बी0बी0सी0 और बुश हाउस।

इसके अतिरिक्त कृति यू0 के0, मिडलैण्ड, 2002, वातायन, 2003 तथा गीतांजलि बहुभाषीय साहित्यिक समुदाय-ट्रेंट, 2004 आदि संस्थाएं भी हिन्दी के प्रचार प्रसार में संलग्न हैं।

संदर्भ -

1- लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इंडिया - डा0 जार्ज ग्रियर्सन और सेन्ट्रल लाइब्रेरी और स्काटलैण्ड।

5- मिनिस्ट्री आफ़ इनफ़ारमेशन एन्ड ब्राडकास्टिंग और 2018।

6- गगनांचल और वर्ष और 20 अंक और 1 जनवरी और मार्च 2003

7- नएजन और संचार माध्यम और हिन्दी, सम्पादक सुधीश पचौरी, अचला शर्मा, बीबीसी, वर्ल्ड सर्विस।

*****

देवगिरी का किला

राजेश श्रीवास्तव
संयुक्त निदेशक
राजभाषा विभाग
गृह मंत्रालय

वर्ष व्यतीत हो जाते हैं, व्यक्ति अतीत हो जाते हैं लेकिन समकालीन इमारतें और भवन, उनकी वास्तुकला और शिल्प अपनी गाथा लेकर आने वाली पीढ़ी की प्रतीक्षा कर रहे होते हैं। हर भग्न टुकड़े पर कथा का एक अटूट इतिहास होता है, हर नक्काशी, हर मूर्ति, हर चित्र कोई न कोई कहानी सुना रहे होते हैं। बस सुनने वाले कान होने चाहिएं, देखने वाली आँखें और अनुभूति करने वाला हृदय। पुरातत्त्व सर्वेक्षण के नवीनतम तरीके तो पूरा इतिहास उद्घाटित कर देते हैं। हमारे पुरातत्त्व अवशेष, ऐतिहासिक महत्व की इमारतें और भारतीय पुरात्व सर्वेक्षण द्वारा संरक्षित भवन अपने काल की गाथा को चीख-चीख कर कहते हैं, सुनिए तो सही। उसे पढ़ने की नहीं, बेहद ध्यान से देखने और दिल से महसूस करने की आवश्यकता होती है।

ऐसा ही एक स्थल है- देवगिरी का किला जो महाराष्ट्र के छत्रपति संभाजी नगर में स्थित है। आक्रांताओं ने बाद में किले का नाम बदलकर देवगिरी से दौलताबाद का किला कर दिया और शहर का नाम बदलकर औरंगाबाद कर दिया। दौलताबाद किले में देवगिरी का किला नाम से भी पट्टिका लगी हुई है। आसपास के कई स्थान भी देवगिरी नाम के साथ आपको मिल जाएंगे जैसे कि देवगिरी उद्यान। अभी हाल ही में शहर का नाम फिर से बदलकर छत्रपति संभाजी नगर कर दिया गया है। जाने कितने आकाओं और आक्रांताओं ने उसे अपने अपने तरीके से उसके रूप और स्वरूप को बदला और जाने कितने किस्से कहानियाँ उससे निरंतर जुड़ते गए। इस किले के इतिहास के पन्नों में कई प्रमुख शासकों और योद्धाओं के नाम लिखे हैं जैसे कि अलाउद्दीन खिलजी, मलिक काफूर, मौहम्मद बिन तुगलक, अकबर, शाहजहाँ, औरंगजेब, छत्रपति शिवाजी महाराज और उनके बेटे सम्भाजी महाराज। हैदराबाद के निजाम को इसका आखिरी शासक माना जाता है।

संभवत: वर्ष 1993 की बात है जब मैं पहली बार अपने एक सरकारी दौरा-कार्यक्रम के सिलसिले में यहाँ गया था। उस दौरान हमारी टीम के साथ एक गाइड भी था और उसने उस समय कुछ विशेष बातें इस किले की सुरक्षा के संबंध में बताई थीं जो आज भी मेरे कानों में ज्यों की त्यों गूंजती हैं। अभी पिछले ही वर्ष दिसंबर, 2024 में मुझे एक बार फिर से यहाँ आने का सुअवसर मिला तो पिछली स्मृतियाँ जैसे जीवंत हो उठीं। गाइड मौजूद नहीं था लेकिन उसकी बातें कानों से हौले-हौले अब भी टकरा रहीं थीं। किले की भव्यता मन को अब भी वैसा ही गुदगुदा रही थी। मेरा मस्तिष्क पिछली यादों को संजोने में जुटा हुआ था और निर्धारित स्थान पर पहुँचने से पहले अपनी यादों को साझा करता रहा।

ऐतिहासिक संदर्भ

देवगिरी का अर्थ होता है देवताओं की पहाड़ी। अब यह तो पता नहीं कि किन संदर्भों में यह नाम अंगीकार किया गया था लेकिन किले की जो रणनीतिक स्थिति है और सैंकड़ों वर्षों बाद भी उसके अवशेषों में जो राजस भाव दिखाई देता है, वह किसी देवकृपा से कम नहीं है। किले में लगी शिलाओं में उत्कीर्ण जानकारी के अनुसार, देवगिरी का किला 11 वीं शताब्दी में यादव शासक भिल्लम पंचम के काल में बनाया गया। इस पराक्रमी शासक ने होयसालों, परमारों एवं कल्याण के चालुक्यों पर विजय प्राप्त की थी। कालान्तर में सन् 1296 ई. में अलाउद्दीन खिलजी ने कृष्ण देव के पुत्र रामचंद्र वेवको पराजित कर इस किले पर कब्जा कर लिया।

कब्जा होने से पहले तक यादव शासकों ने देवगिरी को ही अपनी राजधानी बनाए रखा। बाद में कुतुबुद्दीन मुबारक शाह खिलजी ने देवगिरी के विरुद्ध युद्ध छेड़ा और अन्ततः उसे दिल्ली सल्तनत के अधीन कर लिया। जब सनकी सुल्तान कहे जाने वाले मुहम्मद बिन तुगलक ने दिल्ली में खिलजियों को परास्त किया तो उसने देवगिरी का नाम बदलकर 'दौलताबाद (अर्थात धन से भरपूर) कर दिया। 1328 ई. में उसने अपनी राजधानी दिल्ली से दौलताबाद घोषित की और अपने दल बल के साथ यहाँ आया लेकिन कई कारणों से वह यहाँ लंबे समय तक टिक नहीं सका और उसे फिर से दिल्ली को अपनी राजधानी बनाना पड़ा।

समय के साथ दौलताबाद निरन्तर राजनैतिक गतिविधियों का केन्द्र बना रहा। वर्ष 1499 ई. में अहमदनगर के निज़ामशाही शासकों ने न केवल दौलताबाद पर कब्जा किया बल्कि 1607 ई. में इसे अपनी राजधानी बनाया। बाद में वृक्कन सल्तनत एवं अकबर और शाहजहाँ के नेतृत्व में मुगलों के बीच कई युद्ध हुए। आखिरकार 1633 ई. में यह किला 4 माह मुगलों के घेरे में रहने के पश्चात् उनके अधीन आ गया। दौलताबाद का किला कुछ समय मराठों के अधीन भी रहा।

किले की भव्यता और वास्तुकला

करीब 95 हैक्टेयर भूमि में फैला यह किला मध्य काल में लगभग 200 मी. ऊँची पहाड़ी पर निर्मित दक्कन का सर्वाधिक शक्तिशाली किला माना जाता था। समय के साथ जैसे-जैसे यह किला एक राजवंश से दूसरे राजवंश के अधीन आता गया, विभिन्न स्थापत्यों के निर्माण के साथ इसका आकार भी विशाल होता गया। इस किले में सीढ़ी युक्त कुएं (बावड़ियाँ), कचहरी, भारतमाता मंदिर, हाथी हौद, चाँद मीनार, आम खास भवन, शाही हमाम (राजसी स्नानघर), चीनी महल, रंगमहल, अंधेरी (अंध-गलियारा), बारादरी एवं जल पौढ़ियाँ हैं। इसके साथ ही यहाँ यादव कालीन 10 गुफाएं भी हैं। यहाँ हुए उत्खनन में विभिन्न देवी- देवताओं की मूर्तियाँ, जैन तीर्थकरों की प्रतिमाएं, धार्मिक एवं धर्मनिरपेक्ष प्रकृति के स्थापत्य के भग्नावशेष, तोपें एवं तांबे के बर्तन आदि प्राप्त हुए हैं। हाल ही में, यहाँ पुरातात्विक उत्खनन में मुख्य मार्ग, गलियाँ एवं इनके दोनों ओर विभिन्न स्थापत्य के प्रमाण, हमाम आदि भी मिले हैं। किले की एक दो दीवारों पर कुछ देवी-देवताओं की मूर्तियाँ आज भी बनी दिखाई पड़ती हैं।

अंधेरी भूलभुलैया और किले की अभेद्यता

इस किले को अन्य सुरक्षात्मक उपायों के साथ पहाड़ी की तलहटी में तीन प्राचीरों और विशाल दरवाजों से सुरक्षित किया गया। समस्त प्राचीरों के साथ इस दुर्ग का क्षेत्रफल लगभग 62,70 हेक्टेयर है। सुरक्षा की दृष्टि से इसे अभेद्य बनाया गया है। किले के चारों तरफ गहरी खाई है जो इस समय गंदे पानी से भरी हुई है। जब मैं पिछली बार यहाँ आया था तो गाइड ने बताया था कि किले के बड़े मुख्य द्वार को इस खाई के ऊपर बिछाने से वह पुल बन जाता था। लेकिन शत्रुओं से बचने के लिए इसे उठा लिया जाता था। अब कोई शत्रु केवल खाई को तैर कर ही पार

कर सकता था। ऐसे में इस खाई में बरसाती और अन्य पानी भरकर उसमें साँप जैसे ज़हरीले जीव डाले गए। गाइड ने बताया कि मगरमच्छ और बिच्छू डाले गए ताकि कोई भी तैर कर पार करने की कोशिश करे तो बच न सके। मान लीजिए, दुश्मन किसी तरह इस खाई को पार कर भी गया तो अंदर सैनिकों से सामना होता था। किले के भीतर के मुख्य द्वार तक पहुँचने से पहले ही ये सैनिक शत्रुओं को मार गिराते थे। मान लिया जाए कि शत्रु बहुत ताकतवर है और सैनिकों को परास्त करता हुआ किले के मुख्य भाग में प्रवेश कर भी जाए तो वहाँ एक अंधा गलियारा है जिसे **अंधेरी गुफा या गलियारा** कहा जाता है। यह एक ऊपर की ओर चढ़ता हुआ सर्पिला मार्ग है जो एकदम घुप्प अंधेरे से युक्त किसी भूलभुलैया जैसा रास्ता है। आप रोशनी से होते हुए इसमें आएंगे तो अंधकार और भी ज्यादा महसूस होगा।

यह हिस्सा सुरक्षा का ऐसा भाग है जिसके बारे में ऐसे प्रमाण हैं कि कोई भी शत्रु इस भाग से होकर आगे जा ही नहीं सका, ऐसे में विजय प्राप्त करना तो बहुत दूर की कौड़ी है। हमारे गाइड ने बताया था कि ऐसा इसलिए था कि जैसे ही आप इस अंधे और अंधेरे गलियारे में प्रवेश करते हैं तो बायीं और दायीं ओर की चट्टानी पत्थरों से बनी मोटी-मोटी दीवारों में एकदम नीचे कुछ कुछ दूरी पर खोखले स्थान हैं जहाँ एक आदमी आराम से तलवार या अन्य कोई हथियार लेकर बैठ सकता था। कुछ-कुछ दूरी पर ऐसे ही खोखले स्थान करीब पाँच-साढ़े पाँच फीट की ऊंचाई पर बने हैं। वहाँ भी हथियार लेकर राजा के सैनिक बैठते थे। चूंकि वे अंधेरे में बैठे होते थे तो थोड़ी देर में उनकी आँखें सब कुछ देखने की अभ्यस्त हो जाती थीं लेकिन जो कोई व्यक्ति बाहर से आता था, वह एकदम अंधा-सा हो जाता था। वह शत्रु जैसे ही इस गलियारे में प्रवेश करता, नीचे खोखले स्थान में बैठा सैनिक तलवार से उसकी दोनों टांगे काट देता और गिरते ही मार डालता। यदि वह नीचे वाले सैनिक से बच भी निकला तो ऊपर वाले स्थान पर बैठा सैनिक उसकी गर्दन उड़ा देता था। इस तरह शत्रु के किसी भी तरह जीवित बचने की कोई संभावना नहीं थी।

लेकिन चलिए मान लेते हैं कि येन केन प्रकारेण शत्रु यहाँ इस अंधेरे गलियारे से भी स्वयं को बचाने में कामयाब हो गया तो कुछ सौ मीटर आगे जाने के बाद दायीं ओर एक दो स्थानों पर रोशनी दिखाई पड़ती है तो ऐसा लगता है कि जैसे भाग निकलने का रास्ता मिल गया। ऐसे में निश्चित ही है कि जान बचाकर भाग रहा व्यक्ति और तेजी से उस स्थान की तरफ दौड़ेगा जहाँ से वह बाहर निकल सके। लेकिन बस यहीं उसकी मृत्यु उसकी प्रतीक्षा कर रही होती थी। दरअसल ये खुले स्थान एकदम उस खाई के ऊपर की तरफ बनाए गए हैं जिसमें ज़हरीला पानी भरा होता था और जिसमें ज़हरीले जीव पाले गए होते थे। शत्रु जैसे ही तेजी से भागकर इस स्थान पर आता और दौड़ लगाता तो इससे पहले कि वह कुछ समझ

यह हिस्सा सुरक्षा का ऐसा भाग है जिसके बारे में ऐसे प्रमाण हैं कि कोई भी शत्रु इस भाग से होकर आगे जा ही नहीं सका, ऐसे में विजय प्राप्त करना तो बहुत दूर की कौड़ी है।

पाता, वह सीधा खाई में जाकर गिर जाता जहाँ मगरमच्छ जैसे जीव अपने भोजन की प्रतीक्षा कर रहे होते। किसी कारणवश वह उनसे कुछ समय तक बचा रहकर किले की एकदम सीधी दीवार पर चढ़ने की नामुमकिन कोशिश भी करता तो किले की प्राचीर पर ऊपर बैठे सैनिक खौलता हुआ तेल उसके ऊपर उडेल देते। अब आप कल्पना कर सकते हैं कि जहाँ हर कोने पर मृत्यु पहरा दे रही हो, वहाँ आपके निकल जाने का बस एक ही उपाय था- आपका दूसरे लोक जाना। यह उसके लिए इस लोक का अंतिम पड़ाव होता। किले की इस अभेद्यता का किसी के पास कोई प्रत्युत्तर नहीं था और न ही ऐसा कोई प्रमाण मिलता है। इतनी कमाल की सुरक्षा व्यवस्था किसी अन्य किले

में मिल पाना शायद संभव नहीं है। मैंने भी अपने देश में बहुत सारे किलों का भ्रमण किया है, लेकिन इसका कोई सानी नहीं है।

तोपों वाला किला और दुर्गा तोप

मैं अगर इसे तोपों वाला किला कहूँ तो अतिशयोक्ति न होगी। इस किले में तरह-तरह की तोपों की भरमार है जिन्हें बड़े यत्न से संभाल कर रखा गया है। छोटी-बड़ी बीसियों तरह की तोपें किले में स्थान स्थान पर रखी हुई हैं लेकिन सबसे बड़ी तोप किले की सबसे ऊँची प्राचीर पर है। हमारे गाइड ने बताया कि ऐसी दो तोपों के नाम दुर्गा और मेढ़ा तोप हैं। इससे गोला चलाने की आवाज़ इतनी तेज होती थी कि तोप चलाने वाले तोपची के कान के पर्दे फट जाते थे। तब इसका एक उपाय निकाला गया। तोप में गोला या बम लगाकर उसका पलीता काफी नीचे तक लाया जाता जहाँ एक सरोवर बना हुआ था। जैसा कि आप जानते ही हैं कि यदि आप पानी के भीतर हैं तो वहाँ शोर की तीव्रता बहुत कम होकर सुनाई पड़ती है। इसी विज्ञान का लाभ उठाते हुए तोपची पलीते में आग लगाता और जैसे ही आग गोले या बम तक पहुँचती और गोला फटने वाला होता, वह पानी में डुबकी लगा जाता और करीब एक-दो मिनट बाद बाहर आता। इससे उसके कान के पर्दे बच जाते। आप अंदाजा लगाइए कि ऐसी तोप के गोले की तीव्रता और मार कैसी रही होगी। ये सारी विशेषताएं इस किले को अभेद्य बनाती थीं।

किले में कई दर्शनीय स्थान हैं जैसे कि हाथी हौद जिसे पानी एकत्र करने के लिये बनाया गया था। यहाँ भारतमाता मंदिर भी है जिसके प्रांगण में लंगूरों की टोलियाँ आज भी अठखेलियाँ करती और कलाबाजी लगाते हुए देखी जा सकती हैं। बड़े शरीफ किस्म के लंगूर हैं, किसी पर हमला नहीं करते। आप कुछ दे देते हैं तो आपके हाथों से लेकर खा लेते हैं और फिर किसी दूसरे हाथ की तरफ देखने लगते हैं। पर्यटकों से घुले-मिले रहते हैं।

किले के आरंभिक प्रवेश द्वार से कुछ आगे चलकर एक **चाँद मीनार** है जो लगभग 70 मीटर ऊँची है और धरती पर इसकी परिधि 21 मीटर है। इसका निर्माण अहमदशाह द्वितीय बहमनी द्वारा 1447 ई. में कराया गया था। ऐसा बताया जाता है कि मीनार के भीतर सीढ़ियाँ हैं जो मीनार में ऊपर तक जाती हैं लेकिन सुरक्षा कारणों से फिलहाल ये बंद हैं। पास में ही एक बारादरी है जिसके बारे में कहा जाता है कि 1636 ई. में मुगल शासक शाहजहाँ के विश्राम के लिये इसे निर्मित किया गया था। इसमें संभवतः 13 कमरे हैं।

किले में लगे शिलालेख के अनुसार, दौलताबाद में कुल चार बावड़ियाँ (जलाशय) हैं- दो किले के भीतर हैं और दो शहर में। इनसे पानी की आपूर्ति की जाती थी। इनमें सबसे महत्वपूर्ण सरस्वती बावड़ी है जिसमें तलहटी तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनी हैं। इनमें बारिश का पानी एकत्र किया जाता था।

आप सम्भाजी नगर जाएं तो 42 नंबर की सिटी बस सेंट्रल बस स्टैंड (केंद्रीय बस अड्डा या मराठी में कहूँ तो मध्यवर्ती बस स्थानक) से हर पंद्रह मिनट की अवधि में एलोरा गुफाओं तक के लिए चलती है। यह सफर करीब एक घंटे का है। एलोरा की गुफाएं अंतिम स्टैंड है जबकि उससे ठीक पहले का स्टैंड घृष्णेश्वर या स्थानीय भाषा में घुश्मेश्वर ज्योतिर्लिंग का है। देवगिरी का किला बीच में ही पड़ता है, यह बस इस किले के ठीक सामने उतारती है और लगभग आधे घंटे का समय लेती है। यह सस्ती और सुलभ सेवा है। जाम और काफी ज्यादा किराए के लिए तैयार हैं तो आप कार से भी जा सकते हैं। किले में जाने के लिए आपको मामूली प्रवेश शुल्क भी चुकाना होता है। लेकिन इतना समझ लीजिए कि एक बार आप इस किले में जाएंगे और इसके इतिहास और इसकी कहानियों से दोस्ती करने की कोशिश करेंगे तो उसकी स्मृतियाँ लंबे समय तक आपके हृदय और स्मृति पटल पर अंकित रहेंगी।

*****

अवध की लोक संस्कृति में राम की उपस्थिति

शेषधर यादव
शोध छात्र,
हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

शोध आलेख अवधी ग्रामगीतों और तत्सम्बन्धी लोक सन्दर्भों में राम के जीवन चरित्र, गुण और कर्म वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हुए उसकी युगीन सार्थकता और लोक प्रतिष्ठा के महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को उद्‌धृत करता है। इस प्रक्रम में समाज की निरन्तर गतिमान लोकधारा को भी पुनर्वीक्षित करने का प्रयत्न किया गया है। विविध लोकगीतों का सांस्कृतिक सन्दर्भ अन्वेषित करते हुए उनमें निहित भावों का विश्लेषण किया गया है।

अवधी लोकसाहित्य में राम की वैविध्यरूपा अभ्यर्थना के स्वर मिलते हैं। राम केवल कवियों, लेखकों और तत्वानुशीलक ऋषियों के श्लोकों के ही उपजीव्य नहीं हैं बल्कि समाज के विविध उपेक्षित वर्गों, वनवासी समाजों के भी समाराध्य रहे हैं। शायद यही कारण है कि वाल्मीकि उनके चरित्र को 'शतकोटि प्रविस्तर' कहते हैं। जीवन की प्रत्येक गतिविधि राम के द्वारा आचारित किए गये जीवन सन्दर्भों से अनुशस्त होती है। शायद यही कारण है कि उनके जीवन के ऊपर लिखे गए शास्त्रों से भी अधिक उनके लोक चरित्र की प्रतिष्ठा हुई। इन बातों पर विचार करते हुए हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि उनके चरित्र का कौन सा वैशिष्ट्य उन्हें राजवंशी होने के साथ लोक की सामान्य भावभूमि पर प्रतिष्ठापित करता है, जिनके राज्य करने पर धरती 'राजन्वती' कहलाती है। वाल्मीकि ने राम के राज्य को 'अराजक' राज्य कहा है। यह 'अराजक' शब्द उस अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता जैसे कि आज के समय की अनियंत्रित सत्ताओं के लिए प्रयोग में लाया जा रहा है। 'अराजक' का अर्थ है विधान रहित राज्य। एक ऐसा राज्य जहाँ प्रजा को न्यायपरायण बनाने के लिए किसी विशिष्ट विधान की आवश्यकता न हो, जहाँ प्रजा आत्मानुशासित हो। शायद यही कारण है कि उनके राज्य मे धोबी भी राजा के आचरण को प्रश्नांकित करता है। निषाद को रामराज्य में इतनी स्वतंत्रता है कि वह अपने राजा से भी हठ कर सके। इसी कारण उनका राज्य लोक को अनुशासित नहीं करता बल्कि वह स्वयं प्रजा से अनुशस्त होता है। इसी कारण राम 'निर्बल के बल' बनते हैं। उनकी सेना आज की मार्शल या ट्रेन्ड सेनाओं से विपरीत आदिवासी जनों के पौरुष से निर्मित एक ऐसी विलक्षण सेना है जो अपने राजा के लिए अपना जीवन भी दे सकती है।

लोक की निगूढ़तम जीवन स्थितियों में राम का चरित्र, उनके जीवन से जुड़े विविध कार्य एक प्रकार की अभिप्रेरक अवस्था में विद्यमान रहते हैं। इसी कारण अवध के ग्रामांचलों में राम एक लोकावलंबी राजपुरुष के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उनकी लोक आस्था सामान्य व्यक्ति को राज्यकर्म में समान रूप से सहभागी बनाती है। इसी कारण उनका रामराज्य लोकराज्य है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति की राजनैतिक सम्मति का अपना एक विशिष्ट महत्त्व है। इसी कारण सामान्य जन के मन में राज्य की आदर्श परिकल्पना रामराज्य में सन्निहित मानी जाती रही है। कालगति के अनेकानेक प्रक्रमों में चलकर, समय की अनेकानेक अवस्थाओं को पार करने के उपरान्त भी समाज अपने उस शासक को विस्तृत नहीं कर सका जो वास्तव में समाज की बहुविध संकल्पशीलता को परिपूर्ण करते हुए एक प्रकार के मनोराज्य का निर्माण करता है। अतः लोक अंचलो में उन शासकों की प्रतिष्ठा के विरुद्ध राम एक ऐसे राजा के रूप में सामने आते हैं जो जनता के ऊपर भौतिक स्तर पर अपना शासन अध्यारोपित करने के विपरीत जनता के मनोराज्य का राजा है। अतः ग्रामांचलों के लोकगीतों में प्रजा के प्रतिपालक राम की एक छवि सदाचारपरायण राजा या 'लोकराजा' की है। विविध लोक सन्दर्भों में इस छवि को पूरी भावप्रवणता के साथ रेखांकित किया गया है।

अपनी प्रजा, लोकसमुदायों, वनवासी समाजों के साथ तपस्वियों और मनस्वियों को एक साथ लेकर चलने का सामर्थ्य राम जैसे राजा के द्वारा ही संभव हो सकता है।

उनकी इसी मांगल्यमय लोककल्याण कामना के कारण समाज का हर वर्ग राम को अपना 'लोकराजा' मानता है। लोकभाषा में रचित प्रबन्धकाव्य अपनी लोकप्रियता में अपने पूर्वकालिक सभी महाकाव्यों को छोड़ देता है। 'रामचरितमानस' की लोकप्रियता के पश्चात पूर्व से चली आ रही लोकाख्यान परम्परा में राम के जीवन चरित की वैविध्यरूपा अभिव्यक्तियाँ अनेकानेक विधाओं में नये-नये रूपों में प्रश्न पाती है। अवधी भाषा का लोकसाहित्य राम के प्रजानुरंजक स्वरुप, उनके राज्य संचालन की प्रविधियों और जीवनदर्शन के विविध आयामों को अपने गीतों, लोकनाट्यों तथा आख्यानपरक कथा सन्दर्भों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। पूर्वकालिक दंतकथाओं और कल्पनाश्रित कथावस्तुओं में राम के जिस अतिमानवीय चरित्र को लोक के सम्मुख प्रस्तुत किया गया था, अवधी का मध्यकालिक लोकसाहित्य उनके जीवन को सत्यसान्दर्भिक आधारों पर प्रतिष्ठित करते हुए मानव जीवन से अधिकाधिक नैकट्य प्रदान करने का कार्य करता है। यही कारण है कि प्रबंधेतर साहित्य में सर्वाधिक लोकप्रियता राम के जीवन पर आधारित लोक गीतों और लोकनाट्यों को मिली है। राम के बाल्यचरित पर आधारित वात्सल्य गीतों को गुनगुनाते हुए अवध क्षेत्र की ग्रामीण माताएं अपने बच्चों और छोटे शिशुओं का दुलार करती हैं। राम और सीता के प्रेमपूर्ण प्रसंगों पर आधृत गीत एक नये प्रकार के प्रेमशास्त्र की सृष्टि करते हैं जो लोक की भावधारा से रससिक्त होकर अपनी प्रभावशीलता में द्विगुणित हो जाता है। राज्य त्याग करके बनमार्ग की ओर जाते राम और उनके वियोग में विह्वल प्रजा को स्वर देने वाले ग्रामगीतों को हिन्दी लोकधारा में करुणालावित करने वाली कतिपय श्रेष्ठ कविताओं में अप्रतिम माना जा सकता है।

यहाँ पर यह विचार करने की आवश्यकता है कि राम का यह चरित्र लोक ने, ग्राम्य समाजों ने अपनी कल्पनाओं और सर्जनात्मक आकांक्षाओं से विनिर्मित किया है। राम के इस चरित्र को निर्मित करके वे उसी के प्रति स्वयं भी श्रद्धावनत होते हैं। जैसे कोई सृष्टा अपनी सर्जना से स्वयं भी प्रेरणा प्राप्त करे। जैसे कोई कवि अपनी ही कृति पर विमुग्ध हो जाए, कुछ उसी प्रकार अवधी का यह लोक राम के चरित्र से स्वयं के जीवन को उत्प्रेरित करता है। जीवन में विपत्ति आने पर वह वनवासी राम की संघर्षशीलता से प्रेरणा प्राप्त करता है, जीवन की कठिनतम परिस्थितियों में वह राम की धैर्यशीलता से स्वयं को धैर्यवान बनाता है। एक लोकगीत में सांसारिक कष्टों और दैहिक, दैविकतापों से निवृत्ति पाने हेतु एक भक्त प्रार्थना करते हुए कहता है-

"धै देत्या राम हमारे मन धिरजा।
सबकी महलिया मै दियना वरतु है,
हरि लेत्या राम हमार अन्हियरिया।
सबकी महलिया मे ज्योंना बनत हैं,
हरि लेत्या राम तूं भुखिया पियसिया।
सबकी महलिया में सेजिया बिछत है,
हरि लेत्या राम तूं हमरी निनरिया।"1

शासकों द्वारा उत्पीड़ित होने पर वह रावण जैसे शत्रु को पराभूत करने वाले दिग्विजयी राम का स्मरण करता है। तात्पर्य यह है कि जीवन का प्रत्येक पक्ष राम के ऋजुमार्गीय जीवन चरित के द्वारा अपनी उत्कृष्ट अभिव्यक्तियों को सिद्ध करने का सामर्थ्य पाता है, ऐसा लोक आस्थाओं की गहनतर जीवन स्थितियों के द्वारा स्पष्ट होता है। अवधी लोकसंस्कृति में मनुष्य के जीवन में संस्कारों का महत्त्व सर्वविदित है। जीवन के षोडश संस्कार लोकगीतों के समूह गायन से संवलित होते हैं। ऐसा माना जाता है कि इससे व्यक्ति के जीवन और परिवार में मांगल्य का आगमन होता है। इसी प्रकार से किसी बालक के जन्म के अवसर पर राम के जन्मोत्सव से उपादान लेकर गीत गाए जाते हैं। एक गीत में इस प्रकार की राम जन्मोत्सव की समग्र छवि अत्यंत कुशलता से अभिवर्णित की गई है।

"चैतहि की तिथि नवमी तो नौबति बाजइ हो।
बाजइ दसरथ राजदुलार कौसिल्ला रानी मंदिर हो ॥१॥
मिलहुन सखिया सहेलरि मिलिजुलि चालित हो।
जहाँ राजा के जनमें हैं राम करिय नेवछावरि हो ॥ २॥
केउ नावें बाजू औ बन्द केउ कजरावट हो।
केउ नावें दखिनवाँ क चीर करहि नेवछावरि हो ॥३॥
भितरा से निकरी कौसिल्ला अँगन वहि ठाड़ी भई हो
रानी धई धई हिरदै लगावें करें नेवछावरि हो।।४।।"2

लोक आख्यायनों की बृहत्तर भारतीय परम्परा में अधिकांश चरित मानवीय पृष्ठभूमि के है। लोरिक- चंदा,

पद्मावती, मृगावती जैसे मानवीय चरित्रों को उनके काव्यसृष्टाओं ने मानवीय भावभूमि से ऊपर उठकर पारलौकिक या दैवीय प्रतिष्ठा प्रदान की है। इनके विपरीत राजा रामचन्द्र का चरित्र दैवीयता से निकलकर मानवीयता की यात्रा करता है। लोकगीतों में वर्णित राम मानव सा जीवन व्यतीत करते हुए मनुष्यों से संवाद करते हैं और उनके सुख-दुख में सहभागी होते हैं। वे प्रजा से निस्पृह रहते कुछ अपने जीवन को 'राजसिक' नहीं बनाते बल्कि प्रजा के दुख में दुखी और उसके सुख में सुखी होते हैं। प्रजा पर आए किसी भी संकट में उसके रक्षार्थ वे 'कोदण्ड राम' का स्वरूप धारण करते हैं। उनके इसी स्वरूप की अभ्यर्थना विभिन्न लोकगीतों में गायी गई है। शान्तिकाल में वे प्रजानुरंजन हेतु उसकी कल्याण कामना करते हुए विविध नीतियों का निर्माण करते हैं, अपने शासन में प्रजा को सहभागी बनाते हैं और प्रजा को स्पष्ट निर्देश देते हैं कि किसी भी प्रकार की कार्यविमुखता देखने पर वे अपने राजा को भी सत्पथ दिखाने में संकोच न करें। इस प्रकार से राम का दैवीय चरित्र मानवीयता का प्रतिनिधि बनता है। सच कहा जाये तो राम में प्रजा और प्रजा में राम प्रतिबिम्बित होते हैं।

मध्यकाल में जब देश में राजाओं, सामन्तों, नवाबों और बड़े स्तर पर बादशाहों का राज्य था। अकाल पड़ने पर भी प्रजा को निरंतर कर देने पड़ते थे। अपनी किसी भी पीड़ा को वे किसी स्वप्रयत्न से निदान नहीं कर पा रहे थे तब राम उनके संबल बनते हैं। दुख के दिनों में वे राम से अपने कष्टों की निवृत्ति हेतु प्रार्थना करते हैं कि आप तो राजाओं के भी राजा हो, आपके होते हुए सांसारिक राजा हमें कैसे सता सकते हैं। राम की प्रार्थनाओं में समाज की करुण अवस्था का निदर्शन होता है तथा इसके साथ ही इनसे मुक्त होने की तीव्र अभिलाषा और राम का आश्रय ग्रहण करके स्वयं को आत्मबल से उन्नत बनाने की एक विशिष्ट भावना भी उद्दीप्त होती है। इसी आत्मबल के आधार पर वे अपने कष्टों से मुक्ति पाने के लिए संघर्ष करते हैं।

ग्राम्य लोकगीतों में प्रजा के द्वारा राम-सीता के प्रेम की अत्यंत सुन्दर अभिव्यक्ति की गई है। प्रजा के द्वारा राम के जीवन की भावपरक स्नेहशीलता राम की प्रार्थनाओं में साधारण जनों से लेकर विशिष्ट समुदायों तक के लोग इन लोकगीतों को अपने जीवन से जुड़े विविध मागल्यपरक संस्कारों में गाते रहते हैं। समवेत गायन में इन प्रणयपरक गीतों की प्रभावशीलता देखते ही बनती है। अपने घर के पुत्र-पुत्रियों तथा विवाह के समय वर-वधू में वे राम के स्वरूप का ही दर्शन करते हैं। लोकसंस्कृति में गाली का प्रयोग एक प्रकार के हास्य-व्यंग वातावरण की सृष्टि हेतु किया जाता है। इन गालियों में वर पक्ष के लोग वधू पक्ष को और वधू पक्ष के लोग वर पक्ष के संबंधों को लक्ष्य करके अनेकानेक चुटीली बातों को उद्धृत करते हैं जिससे पारस्परिकता में एक हास्यमय आनंद व्याप्त हो जाता है। राम के विवाह के अवसर पर वधू पक्ष की ओर से गाए जाने वाले लोकगीतों की एक छटा द्दष्टव्य है-

"कौन राम के बहिनी कुछ आज नचिहैं, कुछ काल्हि नचिहैं।
कुछ कौन राम की महफिल के बीच नचिहैं।"3

राम के जीवन के भावपरक और प्रजानुरंजक पक्षों को अपने जीवन में आत्मसात करते हुए उन्हीं के समान आचारण करने और धर्मपथ यह चलने की प्रार्थना इन लोकगीतों में देखने को मिलती है। राम के जीवन का सबसे मार्मिक द्दश्य उनका वनगमन है। इसी कारण आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे सर्वाधिक संवेदनापरक रूप में विवेचन करते हुए लोककारुणिक भावना के प्रधान उद्धार के रूप में स्थापित किया है। अवधी लोकगीतों में राम के जीवन के वन गमन वाले प्रसंग को अत्यधिक मार्मिकता के साथ अभिवर्णित किया गया है। एक लोकगीत में सीता रुदन करते हुए कहती हैं कि हे प्राणनाथ! तुम तो योगी का वेश धारण करके वन को जा रहे हो मैं किसके सहारे जीवन यापन करूंगी।

"तूं तै जोगिया भेष पिया धारे,

अरे जियब हम केकरे सहारे, जात बन प्यारे |" 4

इस प्रकार से राम के जीवन उनके कर्म तथा उनकी प्रजापालक गतिविधियों और जीवन के प्रति उनके अनुराग, राज्य के प्रति उनकी निस्पृहणीय व्यक्तित्व की अभिव्यकि इन लोकगीतों में देखने को मिलती है। यद्यपि तुलसीदास द्वारा लिखित रामचरितमानस की प्रभावशीलता इन आख्यानों, कथाओं, गीतों और लोकनाट्यों में देखी जा सकती है तथापि इनमें लोक की सुषमा का भी सुवास यथास्थान परिलक्षित होता है।

विविध लोक आस्थाओं में सीता और राम पारस्परिक रूप से समाराधित किए जाते रहे हैं। अवध के ग्रामांचलों में सीताराम के अलौकिक दाम्पत्य प्रेम की प्रतिष्ठा सर्वत्र देखने को मिलती है। अतः यहाँ के ग्राम ग्रीतों में भी राम के समान ही सीता के प्रति विभिन्न ग्राम्य तबकों का स्नेह और अनुराग विविध है। अतः यहाँ के ग्रामग्रीतों में भी राम के समान ही सीता के प्रति विभिन्न ग्राम्य तबकों का स्नेह और अनुराग विविध लोकगीतों में अभिव्यक्त हुआ है। फैज़ाबाद के निकटवर्ती क्षेत्रों में गाँवों में विविध उत्सवों पर गाये जाने वाले लोकगीतों का प्रधान उपजीव्य सीता का चरित्र है। इन गीतों में राम से अलग रहकर अपने बच्चों का पालन पोषण करती सीता के प्रति समाज के विविध वर्गों की सहानुभूतिजन्य भावाभिव्यक्तियाँ देखने योग्य हैं। इस प्रकार के लोकगीतों ने कथाओं की नायिका के रूप में समादृत सीता को लोक की सामान्य भावभूमि पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया गया है।

"वन से जो निकरे बन तपसी, त सीतै समुझावहि हो।
सीता ! हम तोरा दुइ खर तुरब त मढ़ई छवाइब ।
सीता ! हम तोरा दियना जराइब त मढ़ई रखाइब हो ॥३॥
को मोरा लीन्हें मुट्ठी भर सोने का छुरवा त को मोरे धगरीन।
ए हो, को मोरे पंजरा बइठइहें त बिपती गवाइब हो।।
बन से जो निकरी वन तपसिनसीतै समुझावहि
सीता ! हम देवों मुट्ठी भर सोने का छुरवा त हम तोर धगरीन
सीता ! हम तोर पंजरा बइठाइब तबिपति गवाँइब हो ॥5।।"

ग्रामांचलों में प्रकृति तथा उससे जुड़े अन्यान्य उपादानों के प्रति एक विशेष अनुराग देखने को मिलता है। इसी कारण अवधी लोकगीतों में राम के जीवन को प्रकृति और मानवेतर प्राणियों के साथ भावात्मक स्तर पर संश्लिष्ट किया गया गया है। इन लोकगीतों में राम के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग करने हेतु तत्पर वन्य प्राणियों की लोक प्रतिष्ठा विद्यामान है। यहाँ लोकानुराग, प्रकृति और मनुष्य की सहभाविकता के साथ आराध्य के प्रति भक्तिप्रवण मनोकांक्षाओं की प्रतिष्ठा की गयी है। लोकसाहित्य के मर्मज्ञ विद्वान विद्यानिवास मिश्र ने ऐसे लोकगीतों के भक्तिमूलक वैशिष्ट्य को रेखांकित किया है-

"छापक पेड़ छिउलियन, पतवन गहबर हो।
रामा तेहि तरों ठाढ़, हिरनियाँ, त मन अति अनमन हो,
चरतइ चरत हिरनवा त हरिनी से पूँछइ हो
हिरनी किय तोरा चरहा झुराने कि पानी बिनु मुरझउ हो,
नाहि मोरा चरहा झुराने, न पानी बिना मुरझउँ हो,
हिरना आजु रमइया जी कै छठिया तुहैं मारि डरिहैं हो,
बाउर भयू तू हिरनियाँ, कौन मति मारइ हो।
हिरनी परबे रमैया जी की छठियाँ, तरनि तरि जाबे हो।
इतनी बचन सुनै हिरनी, तौ सुनहू न पावै हो,
हिरनी पछवाँ उलटि जब चितवै हरिन मोरा जूझै हो।
दोनों हाथ जोड़े हिरनियाँ त विनती बहुत करै हो,
भैया हमके तू मारि गिरावौ, हरिन मोरा बखसहु हो।"6

इस प्रकार हम अवधी लोकगीतों में राम के जीवन कर्म और लोक मांगल्यपरक चरित्रों की विविध छवियों का दर्शन करते हैं। दिव्यतम ईश्वरीय प्रेम का निदर्शन होता है। जहाँ जीवन की अनेकानेक क्रियात्मकताओं में ईश्वर मनुष्य का सहभागी है। लोक अंचलों में प्रतिष्ठित इन लोकगीतों में राम मन्दिरों में प्रतिष्ठित विग्रहरूपों से अधिक प्रभावशाली स्थिति को प्राप्त होते हैं क्योंकि वे मनुष्य के जीवन और कर्म में गहनतर स्थितियों में अंतर्विष्ट होकर उसे निरन्तर मानवता के पथ पर आगे बढ़ने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। यहाँ उनकी उपासना के लिए किसी पंचोपचार, राजोपचार या षोडशोपचार पूजा पद्धतियों के परिज्ञान की आवश्यकता नहीं बल्कि अपने अन्तर्मन में एक बार झांककर उनके लोकानुरंजक गुणों और कर्मों को अधीत करने की अपेक्षा की जाती है। फलतः हम देखते हैं कि शास्त्रीय धारा में स्थापित राम के समानान्तर लोकधारा में प्रतिष्ठित राम के इस लोक रूप का सौन्दर्य 'दिने दिने नवं नवं प्रतिक्षण वर्धमान' होते हुए आज भी समाज में जीवन्त मानवता की प्रतिष्ठा करने में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

सन्दर्भ सूची

1. अवधी लोकगीत विरासत,(2015) विद्या विंदु सिंह, पृष्ठ संख्या 170, ज्ञान विज्ञान एजूकेयर दिल्ली - 2015

2. कविता कौमुदी, भाग 3, रामनरेश त्रिपाठी, पृष्ठ संख्या 161

3. अवधी लोकगीत विरासत, विद्या विंदु सिंह, पृष्ठ संख्या 41

4. अवधी लोकगीत विरासत, विद्या विंदु सिंह, पृष्ठ संख्या 442

5. कविता कौमुदी(1990), भाग-3 हिन्दी मंदिर सुल्तानपुर रामनरेश त्रिपाठी, पृष्ठ संख्या 156

6. वाचिक कविता:अवधी, विद्यानिवास मिश्र, पृष्ठ संख्या 37

*****

चांदी के गोले दागने वाला चूरू का ऐतिहासिक किला

बाल मुकुन्द ओझा
वरिष्ठ लेखक एवं पत्रकार
डी32, मॉडल टाउन, मालवीय नगर,
जयपुर

देश और दुनियां में एक से एक ऐतिहासिक किले हैं जो बड़ी बड़ी लड़ाइयों और युद्धों की अमर गाथाएं अपने में समेटे हुए है। इनमें एक किला ऐसा भी है जो अपनी आजादी और अस्मिता की रक्षा के लिए दुश्मनों पर चांदी के गोले दाग कर विश्व इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में अंकित हो गया। यह वीर प्रसूता भूमि राजस्थान के चूरू का ऐतिहासिक किला है। प्राचीन समय में राजा अपने राज्य या किले की रक्षा के लिए अपना सब कुछ न्योछावर करने को तैयार रहते थे। यहां तक कि वो सोने-चांदी, हीरे-जवाहरात की भी कीमत नहीं समझते थे।

देखन में छोटा लगे, घाव भरे गंभीर। यह कहावत कभी चरितार्थ की थी राजस्थान के चूरू स्थित एक ऐतिहासिक किले ने। चूरू उस समय एक छोटी रियासत थी। यह इसी चूरू रियासत के एक छोटे मगर ऐतिहासिक किले की कहानी है जो इतिहास में अमर है। यह किला दुनिया का एकमात्र ऐसा किला है, जहां युद्ध के समय गोला बारूद समाप्त हो जाने पर तोप से दुश्मनों पर चांदी के गोले दागे गए थे। यह इतिहास की एक बेहद हैरतअंगेज और चौंका देने वाली घटना थी, जो वर्ष 1814 में घटी थी। देशभर में उस दौरान आज़ादी के आंदोलन की सुगबुगाहट शुरू हो गयी थी। राजस्थान में विभिन्न रियासतों में बंटे अनेक शासकों ने अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार कर ली थी। इनमें बीकानेर की रियासत भी शामिल थी। बीकानेर के शासक ने अंग्रेजों की अधीनता जरूर स्वीकार की मगर चूरू ने खुली हवा में सांस लेना मंज़ूर किया जो अंग्रेजों के अधीन बीकानेर के शासक की बर्दाश्त के बाहर था। यह घटना अगस्त 1814 की है जब बीकानेर के शासक ने अपनी सेना लेकर चूरू पर भारी सैन्य बल के साथ आक्रमण कर दिया।

चूरू के इस ऐतिहासिक किले का निर्माण ठाकुर कुशल सिंह ने 1694 ईस्वी में करवाया था। ठाकुर कुशल सिंह ने नगरवासियों को सुरक्षा प्रदान करने और आत्मरक्षा के उद्देश्य से इस किले का निर्माण कराया था। किले का निर्माण होते ही लोगों का कुशल सिंह में विश्वास बढ़ा और बड़ी संख्या में लोग आकर चूरू में बसने लगे।बताया जाता है किला बन जाने से नगर के विकास और व्यापर का मार्ग प्रशस्त हो गया और चूरू तरक्की करने लगा। चूरू के मुख्य बाजार में स्थित इस किले का परकोटा बहुत मजबूत बना है। यह किला नौ बुर्जों में विभक्त है। किले की दीवारें अत्यंत मजबूत चौड़ी एवं ऊँची है। सिंह द्वार के दरवाजे लोहे की मोटी सलाखों से जुड़े है। इस दरवाजे को भेदना अत्यंत दुष्कर कार्य है। किले के दरवाजे में प्रवेश से पहले एक पक्का खुरा बना है। किले की प्राचीर में अनेक सुराख है जहाँ से शत्रुओं पर बंदूकें दागी जाती थी। यह किला अनेक लड़ाइयों का स्थल रहा है। तोप के गोले भी इसकी दीवारों को नष्ट करने में सफल नहीं हुए। सुप्रसिद्ध इतिहासकार गोविन्द अग्रवाल द्वारा लिखित चूरू मंडल के शोधपूर्ण इतिहास के अनुसार मध्ययुग में ऐसी मान्यता थीं जिस किले को तोपों के गोले नहीं लगते वह कुंवारा ही रहता है। मगर चूरू के ऐतिहासिक किले ने एक नहीं अनेक विवाह किये अर्थात इस किले पर अनेक बार तोपों के गोलों की वर्षा हुई।

किले के सिंह द्वार के दक्षिण में एक बुर्ज में 1870 ई. का एक पट्ट लगा हुआ है । किले के एक भाग में देवली, एक पुराण कुआँ और गोपीनाथजी का भव्य मंदिर है। मगर यह किला अपनी आजादी की रक्षा के लिए चांदी के गोले दागने के कारण विश्व प्रसिद्ध है। इस किले के निर्माता ठाकुर कुशल सिंह के वंशज ठाकुर शिवजी सिंह दबंग और स्वाभिमानी व्यक्ति थे। बीकानेर के महाराजा सूरत सिंह से उनकी कभी नहीं बनी। बीकानेर रियासत ने उस दौरान अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार की थी। ठाकुर शिवजी सिंह की प्रजा अपने राजा और राज्य की रक्षा के लिए अपनी धन-दौलत तक लुटा देते थे।

सुप्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल टॉड के अनुसार शिवजी सिंह का सैन्यबल 200 पैदल और 200 घुड़सवार था। युद्ध के समय इसमें एकाएक ही बढ़ोतरी हो जाती थी। क्योंकि चूरू की जनता अपने शासक का तन, मन,धन से साथ देती थी। यह घटना अगस्त 1814 की है जब बीकानेर के शासक ने अमरचंदसुराणा को अपनी सेना लेकर चूरू पर भारी सैन्य बल के साथ आक्रमण कर दिया। युद्ध के नगाड़े बजने पर चूरू के ठाकुर शिवजी सिंह ने दुश्मन का जमकर मुकाबला किया लेकिन कुछ दिनों बाद इनके पास गोला और बारूद खत्म हो गए। ठाकुर के चिंतित होते ही लुहारों ने मोर्चा सम्हाला। लोहे को गलाकर गोले बनाने शुरू कर दिए लेकिन वे भी समाप्त हो गए और गोले बनाने के लिए सामग्री नहीं थी। तब यहां के सेठ साहूकारों ने चूरू की अस्मिता की रक्षा के लिए अपनी तिजोरियां खोल दी। उन्होंने चांदी लाकर ठाकुर को समर्पित कर दी। लुहारों और सुनारों ने मिलकर चांदी के गोले बनाए। इसमें बारूद भरा गया था। जिसके बाद शिवजी सिंह ने बड़े ही आत्मविश्वास के साथ दुश्मनों को मुँहतोड़ जबाब देते हुए चांदी के गोलों से दुश्मन पर हमला किया। तापों ने जैसे ही चांदी के गोले उगलना शुरू किया तो अंग्रेज सेना दंग रह गई। उसने घेराबन्दी खत्म कर दी। दुश्मन भाग खड़े हुए और इस तरह चांदी के गोले दाग कर चूरू ने अपना नाम विश्व इतिहास में स्वर्णिम अक्षरों में लिख दिया।

प्रशासनिक देख रेख के आभाव में किला जीर्णशीर्ण हो रहा था। तीन वर्ष पूर्व निम्न हस्ताक्षर अभियान चलाकर राज्य सरकार और प्रधानमंत्री का ध्यान इस और आकर्षित कर किले के संरक्षण की मांग की गई जिस पर सरकार ने किले के जीर्णोद्धार के लिए पांच करोड़ रूपये की धनराशि स्वीकृत की। इस राशि से किले के सौन्दर्यकरण का काम कराया जा रहा है। जागरूक नागरिकों, साहित्यकारों और पत्रकारों का कहना है किले में चूरू से जुड़े इतिहास और ऐतिहासिक चीजों का संग्रहालय बनाना चाहिए। आखिर लोग देखने आएं तो यहां उन्हें दिखाया तो जा सके कि चांदी के गोले इस गढ़ से दागे गए थे। ऐतिहासिक किले का उपयोग तो बहुत सारे संस्थानों ने किया है लेकिन सार संभाल की जिम्मेदारी किसी ने नहीं ली। इसे यूनेस्को जैसी विश्व धरोहर सूची में शामिल करवाने की आवश्यकता है।

*****

राजभाषा प्रभाग, संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा दिनांक 21.03.2025 को आयोजित राजभाषा संगोष्ठी

उत्तराखंड की लोक संस्कृति को परिलक्षित करती ऐपण कला एक पारंपरिक लोक कला है। यह कला विशेष रूप से उत्तराखंड के कुमाऊं मंडल में देखने को मिलती है। ऐपण कला सुख-समृद्धि और शुभता की द्योतक है जिसे रंगोली और ज्यामितीय आकृतियों से दर्शाया जाता है।

संस्कृति मंत्रालय
भारत सरकार